तुम्हारे लिए

हिमांशु जोशी

1

अभी तक भी सच नही लग रहा है। लगता है, यह एक सपना था। सपना भी तो कभी कभी सच का अहसास दे जाना है न।

अपनी जेब मे से हल्के नीले रग का अधफटा टिकट निकालकर देखता हू। हवाई-अड्डे का ही है। बायीं ओर का हिस्सा तिरछा फटा है। सबसे ऊपर अंग्रेजी और नीचे हिन्दी मे लिखा है—'पालम विमानपत्तन'।

फिर कैसे मान लू अनुमेहा, कि जो कुछ अभी अभी घटित हुआ, वह सत्य नहीं था ?

सुबह छह बजे जब भागा भागा पहुचा, तब तुम्हारे विमान को उडान भरे शायद पन्द्रह मिनट हो चुके थे। मतलब यह कि अब तक तुमने आसमान मे लगभग सौ किलोमीटर की दूरी तय कर ली होगी। इतनी लम्बी दूरी इन छोटे से हाथो की सीमा से परे है। दृष्टि से भी दूर। केवल कल्पना की उडान द्वारा मात्र अनुभव कर सकता हू कि इस समय तुम कहा होगी ? किस पवत, किस नदी, किस शहर के ऊपर ?

हवाई अड्डे पर अनचाहे तुमने पीछे मुडकर देखा होगा न ! जब सभी यात्री विमान पर चढने के लिए बढ रहे होंगे, उस समय सबकी तरह तुम्हारे भी हाथ हवा में लहराये होगे !

विमान पर चढते समय तुम्हें कैसी अनुभूति हुई होगी ? सब सोचते हुए मुझे अजीब-अजीब-सा लग रहा है।

कोई अन्त समय मे कुछ कहना चाहे, किन्तु बिना कहे ही सदा-सदा के लिए चला जाए—तो कैसी विकट अनुभूति होगी ? वैसा ही कुछ कुछ मुझे भी हुआ। एक असह्य, अव्यक्त वेदना से मैं भीतर ही भीतर बुरी तरह, देर तक घुटता रहा।

तुम्हें मालूम था, तुम यहां अधिक जिओगी नहीं। वहां जाकर ही जी सकोगी, इसकी भी सम्भावना नहीं। फिर तुमने यह सब क्या किया? किसके लिए? किसलिए?

एक अजीब से रहस्य की सृष्टि तुम सदैव करती रहीं। स्वयं को छलती रहीं—निरन्तर। दूसरों को छलने की अपेक्षा स्वयं को छलना अधिक दुष्कर होता है न। शायद इसीलिए तुम्हारे एक व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न कई प्रतिबिम्ब एक साथ उभर आये थे। जो एक-दूसरे के कितने साधक सिद्ध हुए, कितने बाधक, यह सब मैं नहीं बतला पाऊंगा, क्योंकि परखने की दृष्टि से मैंने कभी तुम्हें देखा ही नहीं था।

याद है, उस साल कितनी बारिश हुई थी! ऐसी ही बौछारें कई दिनों तक झरती रही थीं। लेक ब्रिज के ऊपरी हिस्से के पास तक झील का पानी लहराने लगा था। पुल के नीचे तीव्र वेग से घाटी की ओर बहता जल बड़े बड़े प्रस्तर-खंडों से टकराता, तो प्रपात का-जैसा दृश्य उभर आता था। धुंधला धुंधला सफ़ेद धुआं-सा। फव्वारे के जैसे छींटे दूर-दूर बिखरने लगते।

इस तरह दिनों तक निरन्तर बारिश होती। सारा शहर कुहासे से ढका रहता। बड़े-बड़े पहाड़ों से घिरी झील कुएं-जैसी लगती। कभी कभी तो दम घुटने-सा लगता था।

उस साल नैनीताल पहली बार गया था और शायद पहली बार तुम्हें देखा था। तब क्या उमर रही होगी? यही, कॉलेज में दाखिला लिया ही था न!

एक दिन सुबह-सुबह किताबें खरीदने, सुहास के साथ मल्लीताल गया था। नौ बजे का भोंपू भी शायद अभी बजा न था। अशोक-टाकीज से होकर, सीधी चढ़ाई चढ़कर मेन-बाजार पर अभी हम पहुंचे ही थे कि शीशे की सफ़ेद कटोरी में दही लिये तुम घर की ओर लौट रही थीं। सफ़ेद सलवार सफ़ेद कुर्ता। अभी-अभी सूख रहे स्वच्छ सुनहरे बाल तुम्हारी दूधिया आकृति के चारों ओर बिखरे हुए थे।

पल भर में पता नहीं क्या हुआ? चलते चलते मेरे पांव एकाएक जड़ हो गये। अनायास मैंने पीछे मुड़कर झांका तो आश्चर्य की सीमा न रही।

तुम भी उसी तरह अचरज से पीछे पलटकर देख रही थी।

क्या देख रही थी, अनुमेहा ? उन निगाहों में ऐसा क्या था, आज तक समझ नहीं पाया।

वासना ! नहीं-नहीं, प्रेम ! वह भी नही। शायद इससे भी अलग, इससे भी पावन कोई और वस्तु थी, जिसे नाम की सज्ञा मे बांधा नही जा सकता।

उस सारे दिन हवा महकती रही थी। झील के ऊपर तैरते बादल अनायास रग बदलते रहे थे।

जुलाई का महीना अब सम्भवत बीतने ही वाला था।

इस बार पढ़ाई का सिलसिला जारी रखना कठिन लग रहा था। पिताजी बूढ़े हो चुके थे। दीखता भी कम था। मां के अथक परिश्रम के बावजूद खेतों से उतना उपज न पाता था, जितना रहन के लिए जितनी जरूरत थी। इसलिए ऋण का भार निरन्तर बढ़ता चला जा रहा था। पिताजी चाहते थे, मैं घर का काम देखू, सबसे बड़ा हूं—दो अक्षर सिख-पढ़कर उनके कमजोर कधो को सहारा दू। परन्तु मुझमें एक अजीब-सी धुन सवार थी—पढ़ने की। पिताजी से बिना पूछे ही मैंने आगे पढ़ने का निश्चय कर लिया था। जून बीत रहा था और जुलाई आरम्भ होने ही वाला था कि एक दिन उन्होंने खुद ही बुलाकर कहा, "अच्छा है बीरू, कुछ और पढ लो। दो खेत और रेहन रख देंगे, क्या अन्तर पड़ता है ?" पिताजी ने बड़े सहज भाव से कहा था, परन्तु ये शब्द मुझे कहीं दूर तक छील गये थे।

"आप पर अधिक भार नहीं डालूगा। कुछ ट्यूशनें कर लूगा या छोटा-मोटा कोई और काम।" कहने को तो कह गया था, किन्तु मुझे लगता नही था कि यह सब इतना आसान होगा।

इसलिए दाखिला लेते ही मैंने ट्यूशनों की खोज आरम्भ कर दी थी।

कॉलेज से लौट रहा था एक दिन। तल्लीताल पहुचा ही था कि रामजे रोड पर सुहास टकरा गया था। सुहास, वही गोरा चिट्टा, लम्बा-चौड़ा, मेरा क्लासफैलो। चहकता हुआ, मेरी पीठ पर धौल जमाता हुआ

बोला, "विराग, चाय पिला तो एक अच्छी खबर सुनाऊं !"

चलते चलते मैं ठिठक पड़ा । भूख मुझे भी लग रही थी कुछ-कुछ । नुक्कड़ वाली दूकान से मैंने गरम गरम बालू में भुनती मूगफलियां लीं, एक आने की । मुहास की ओर बढाता हुआ बोला, "ले, खा चीनियां बादाम ।"

"विराग शर्मा द ग्रेट, नाऊ यू आर ए किंग ।" हंसते हुए उसने कहा था ।

प्रश्न भरी दृष्टि से मैंने उसकी ओर देखा ।

"यार, तुम्हारे लिए ट्यूशन बूक की है—।"

"सच्च !" मुझे विश्वास नहीं हो रहा था ।

"बीस रुपये मिलेंगे, पर फिफ्टी-फिफ्टी होंगे ।"

मैं ज़ोर से ठहाका लगाकर हंसा ।

तिराहे के पास से हम फिर लेक ब्रिज की ओर लौट पड़े थ ।

"एक घटे के कुछ कम नहीं होते, गुरु !" उसने कुछ रुककर कहा, "पर हा, मैथ्स पढानी होगी, साइंस भी । पढा पायेगा ?" उसके शब्दों में आत्मीयता ही नहीं बुजुर्गियत भी थी ।

माल रोड के समानान्तर बनी कच्ची सडक से चल रहे थे हम । वीपिंग विलो की लताएं नीचे जल की सतह तक झुक आयी थीं । एक घोड़ा धूल उड़ाता हुआ आगे निकल गया था । कुछ सैलानी झील के किनारे बेंच पर बैठकर कुछ खाते हुए ज़ोर-ज़ोर से हंस रहे थे ।

बीस रुपये उस ज़माने मे कम नहीं होते थे । छात्रावास के कुल खर्चे का एक तिहाई ।

'कहा जाना होगा पढाने के लिए ?

'डॉ० दत्ता के घर—ब्लू-कॉटेज ।"

दूसरे दिन शाम को ठीक समय पर मैं जा पहुंचा ।

बाहर लोहे की ज़ंजीर से बंधा एक झबरैला कुत्ता मुझे देखते ही, ज़ंजीर तुड़ाकर झपटने के लिए लपका ।

काल बैल के बटन पर मैंने अंगुली रखी ही थी कि सहसा द्वार खुला । अचरज से मैंने देखा । 'कहिए' की मुद्रा मे तुम खडी थीं । हां हां, तुम !

'डॉक्टर साहब ने बुलाया है । टयश ।" मैं अभी अटक-अटककर कह

ही रहा था कि प्रौढ़ावेगी एक वृद्धा भीतर के दरवाजे पर टगा पर्दा हटाकर आयीं, "आइये, आइये ! अनु के लिए कह रहे थे ।"

सोफ़े पर मैं सिमटकर, सिकुड़कर बैठ गया । बाहर कुछ-कुछ बारिश हो रही थी । लगता था कुहरा झर रहा है। मेरे कपड़े तनिक भीग आये थे । काले जूतों के तलों पर गीली मिट्टी चिपक गयी थी । फ़र्श पर बिछी कालीननुमा कीमती दरी पर पांव रखने में अजीब सा संकोच हो रहा था ।

अभी मैं बैठा ही था कि एक छोटा सा बच्चा आया और मुझे भीतर ले गया। एक छोटी-सी कोठरी में ले जाकर उसने बैठने का आग्रह किया ।

यह कोठरी क्या थी, बगीचे की तरफ वाले हिस्से में एक अर्द्ध वृत्ताकार कमरा था—काठ का। खिड़कियों पर शीशे के रंग बिरंगे टुकड़े लगे थे । पुराने जमाने की नन्ही-सी गोल मेज के आमने-सामने बेंत की दो कुर्सियां थीं । सीने से बस्ता चिपकाये धीरे से तुम आयी और सामने वाली कुर्सी पर चुपचाप बैठ गयी ।

मैं तुम्हारी ओर चाहकर भी न देख रहा था। इस प्रकार की अतिरिक्त गम्भीरता ने मुझे अकारण घेर लिया था । मैं अभी तक भी बाहर की ओर ही देख रहा था । हवा में हिलती अधखुली खिड़की से सारा दृश्य साफ दिखलायी दे रहा था। आड़ू का छतरीनुमा बौना वृक्ष बारिश की हल्की हल्की बौछारों से भीग रहा था। पहाड़ी के ऊपरी भाग से घना कुहासा भागता हुआ नीचे की ओर लपक रहा था । अब खिड़की की राह भीतर आने ही वाला था कि तुमने खिड़की का पल्लू तनिक भीतर की ओर खींच लिया था ।

टीन की कत्थई छत पर पानी की बौछारों का संगीत साफ सुनाई दे रहा था । कहीं बिजली कड़क रही थी । बीच छत से एक पतला तार नीचे लटक रहा था । उसके अन्तिम सिरे पर झूलता एक बीमार बल्ब टिमटिमा रहा था ।

तुमने मैथ्स की दो पुस्तकें मेरी ओर सरका दीं ।

मैं बतलाता रहा, सिर झुकाये तुम हिसाब बनाती रही । आज्ञाकारी

सुशील बच्चे की तरह तुमने एक भी प्रश्न अपनी ओर से नही पूछा।

समय का भान हुआ तो मैं अचकचाया। पूरा डेढ घटा बीत चुका था। तुम्हारी किताबें, कॉपिया पेंसिल तुम्हारी ओर सरकाकर मैं कुर्सी से उठने ही वाला था कि डॉक्टर दत्ता न अधमुदा दरवाजा खोला।

"शर्माजी, आप तो बहुत अच्छा पढाते हैं।" वह मेरे समीप आकर खडे हो गये थे, "हमे ऐस ही ट्यूटर की आवश्यकता थी। हमारे बहनोई साहब भी डाक्टर थे न। उनकी इच्छा थी कि हमारी यह बिटिया भी डॉक्टर बने। आपका सहयोग मिला तो शायद यह सपना कभी साकार हो जाए।" मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए उन्होंने अपनी प्रौढ दृष्टि से कुछ टटोलते हुए देखा। फिर होठो पर टिकी पाइप हाथ मे थामते हुए बोले, "वैसे पढ़ने मे तो ठीक है न ?"

'जी हा। जी हा।"

'होस्टल मे ही रहते हैं आप ?"

'जी हा।"

"आपकी आवाज कुछ भारी भारी क्यो लगती है ? सर्दी की तो शिकायत नही ?'

'जी, नही। कल झील म दर तक तैरते रहे थे, उसी स कुछ हो गया लगता है।" मैंने सकुचाते हुए कहा था।

"कल सुबह हास्पिटल आ जाइएगा। मौसम ठीक नही। सर्दी लग गई तो परदेस में परेशानी मे पड जाएगे।"

डाक्टर दत्ता के साथ साथ मैं भी बाहर निकल आया था।

बाहर अब अधेरा था। कुहरा था। पानी भी बरस रहा था। उन्होंने मेरे मना करने के बावजूद भीतर से छतरी मगायी और मेरे हवाले कर दी।

अपने घर की-सी इस आत्मीयता ने कहीं मेरा रोम रोम भिगो दिया था।

रास्ते भर तुम्हारी अधमुंदी पलकें पता नहीं क्यों मेरा पीछा करती रहीं-थीं ? यह क्या हो गया—फ़िल्मी कहानी की तरह ? मेरी समझ में नहीं आ पा रहा था।

"गुरु, आज कुछ खोये खोये-स हो !" सुहास ने पूछा था।

"थकान-सी महसूस कर रहा हू।' प्रत्युत्तर मे कुछ कहना है, इसलिए बिना कुछ सोचे ही मैंने कह दिया था।

"घर से चिट्ठी आयी ?"

"हा, सब ठीक है।"

"विवाह की बात पिताजी ने फिर तो आगे नही बढ़ाई ?"

"ना यार, अपनी ही जिन्दगी चलाना कठिन है, उस पर किसी और का बोझ ! जब तक पढ़ाई पूरी करके कही सैटिल नही हो जाता विवाह की बात सोच भी नहीं सकता।"

सुहास ने सिगरेट की ठठी झट से फर्श पर रगडकर बुझा दी और कम्बल तानकर सो गया था।

और मैं यो ही पडा-पडा पता नहीं क्या-क्या सोचता रहा।

सुहास मेरा क्लासफैलो ही नही, रूम-मेट भी था।

जब से मैं गुरखा-लाइंस के इस सीनियर होस्टल मे आया था, हम दोनो साथ साथ रह रहे थे। उम्र मे मुझसे कुछ बडा ही होगा, परन्तु इज्जत बहुत करता था। शायद इसलिए कि मैं पढ़ने मे हमेशा अव्वल आता था, मेरे नोटस से उसे सहायता मिल जाती थी या मुझे वह बहुत सुशील सुसस्कृत समझता था। पता नही क्यो, उससे एक तरह की आत्मीयता हो गयी थी। अपने छोटे भाई की तरह वह मेरी हर जरूरत का ख्याल रखता।

इन तीन महीनो मे मुझे बहुत सी बातों का पता चल गया था—डॉक्टर दत्ता की पहली पत्नी बहुत पहले गुजर गयी थी। यह दूसरा विवाह उन्होंने अभी चार साल पहले किया। उनकी और श्रीमती दत्ता की उम्र मे अठारह साल का अन्तर है। श्रीमती दत्ता का स्वभाव भी उनके बिल्कुल

विपरीत है। इस विवाह से अभी तक एक भी बच्चा नहीं है। पिक्चरें देखने तथा अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास पढ़ने का श्रीमती दत्ता को बहुत शौक है। डाक्टर दत्ता पर हमेशा हावी रहती हैं। डॉक्टर दत्ता की पूर्व पत्नी के बच्चे मेमना की तरह सहमे-सहमे-से रहते हैं।

एक दिन मैं तुम्हारे घर पढ़ाने आया तो घर सूना-सूना लगा। नौकर ने बतलाया कि सब शादी पर गये हैं—मुरहिल लॉज। रात को देर से लौटेंगे।

मैं वापस आने के लिए मुड़ा ही था कि तुम्हारी आवाज सुनायी दी। मैंने अचकचाकर देखा "तुम नहीं गयीं?"

"न कल से एक्जाम हैं ।"

"हां, मैं तो भूल ही गया था कि कल से तुम्हारी परीक्षाएं हैं।"

रोज की तरह पढ़ाने के लिए मैं कुर्सी पर अभी बैठा ही था कि तुम चाय ले आयी थीं।

"आपको यहां से जाते-जाते सर्दी लग जाती होगी। मल्लीताल से तल्लीताल—गुरखा लाइंस डेढ़ मील तो होगा ही !" तुमने पता नहीं क्या सोचकर कहा था? तुम्हारे अधरों से आत्मीयता भरे शब्द मैं पहली बार सुन रहा था।

"इतना तो रोज ही घूम लेते हैं। पहाड़ी लोगों को वैसे भी सर्दी बहुत कम लगती है।"

यह सुनते ही तुम्हारे रेशमी अधरों पर मुस्कान की एक हल्की-सी रेखा खिंच आयी थी।

अपने बिखरे बालों को यों तर्जनी पर छल्ले की तरह तुम अकारण देर तक लपेटती रही थीं। मैं निर्निमेष तुम्हारे चेहरे की ओर देख रहा था। तुम्हारी आकृति में एक अनोखी मासूमियत थी। निर्मलता। निष्कलंकता—कमल के पत्ते पर थिरकते गंगाजल की तरह।

पता नहीं अपनी अन्तहीन परेशानियों के बावजूद मैं आज इतना खुश क्यों था? तुम्हें देखते ही एक अनोखी आत्मीयता एवं अपनेपन का अहसास होने लगता था मुझे जैसे तुमसे जन्म-जन्मान्तरों का कोई अनाम सम्बन्ध हो।

मैंने देखा, तुम्हारे माथे पर नीला निशान-सा उभर आया है।

"माथे पर चोट कैसे लगी ?"

"यों ही—गिर पड़ी थी ।"

मुझे मालूम था तुम सच नहीं बोल रही हो, फिर भी जान बूझकर मैंने कुरेदा नहीं। मैं नहीं चाहता था कि किसी तरह तुम्हारा दिल दुखे।

तुम्हारे पिता की असामयिक मृत्यु के बाद अब डॉक्टर दत्ता ही तुम्हारे पूरे परिवार का भरण पोषण कर रहे थे। सुहास ने बतलाया था, इन्हीं बातों पर श्री दत्ता से आये दिन श्रीमती दत्ता की तकरार होती रहती थी। तुम किन परिस्थितियों में यहां पढ़ रही हो, इसका कुछ-कुछ भान हो गया था मुझे।

"तुम्हें मेरे पढ़ाने में कोई कठिनाई तो नहीं ?"

"जी नहीं—अब सब ठीक चल रहा है।"

थोड़ी देर मैं चुप रहा। कुछ सोचते हुए, फिर मैंने कहा, 'अगर ठीक है तो फिर मैं न आऊं? मेरी अपनी भी पढ़ाई है। डिवीज़न न बना पाया तो सारा करियर चौपट हो जायेगा ।"

तुम्हें जैसे बिजली का तार छू गया था, "नहीं-नहीं, ऐसा न कहिये।" आवेश में तुमने मेरा हाथ पकड़ लिया था, "थोड़ी देर के लिए ही सही—एक बार अवश्य आइये। अपनी पढ़ाई भी जारी रखिए ।"

पता नहीं अपनेपन के किस अधिकार से तुम यह कह गयी थी, मेहा! मेरे जीवन में इस तरह की अनुभूति का यह पहला और अन्तिम अनुभव था। तुम्हें देखकर वासना नहीं, प्रेम नहीं, एक अलग ही तरह की अनुभूति होती थी। लगता था, तुम इस धरती की नहीं हो। इस धरती के लिए नहीं हो।

देर तक कमरे में फिर मौन रहा।

बाहर झींगुरों का सतत स्वर व्याप रहा था।

"पिछले महीने पिकनिक के लिए लड़ियाकांटा क्यों नहीं गयी? तुम्हारा सारा स्कूल गया था!" यों ही जानने के लिए मैं पूछ रहा था।

"मन नहीं था—।

हमारे बीच फिर सन्नाटा घिर आया था। मेरे मन के किसी कोने में

शका जागी—शायद खर्च का प्रश्न न हो !

'एक बात पूछू, मेहा ?'

"पूछिये—।'

"बुरा तो नही मानोगी ?"

"नही—।"

"तुम्हें यहा कोई कष्ट है ?"

'नही तो—।"

"फिर तुम उदास क्यो रहती हो ?"

'कहा रहती हू ?" तुमने हसने का प्रयास किया था, पर तुम्हारी ओढी हुई हसी साफ झलक रही थी।

तुम फिर चुप हो गयी थी।

"एक बात कहू—?' मैंने फिर मौन भग किया था।

"कहिए।"

"उसका गलत अर्थ तो नही लगाओगी ?"

तुमने केवल सिर हिला दिया था 'नहीं।'

"तुम्हें खर्चा पूरा मिल जाता है ?"

"हा—क्यो ?"

"मेरे पास जेब-खर्च से कुछ पैसे बच गये हैं। चाहता हू, तुम रख लो। मैं सहायता की दृष्टि से नहीं कह रहा, न इस दृष्टि से ही कि तुम्हें कोई अभाव है। बस्स तुम खरचोगी तो मुझे कहीं अच्छा लगेगा। केवल अपनी खुशी के लिए—।"

ट्यूशन के कुछ रुपये बचे थे। मैंने यो ही जेब मे हाथ डाला। बन्द मुट्ठी तुम्हारी ओर बढाई तो तुमने कोई एतराज नहीं किया। तुम्हारी कापती हथली में कागज के कुछ टुकड़े यों भिचे रहे देर तक। मैंने देखा—तुम्हारी मिची आंखो से खारे पानी की दो बूदें टपक रही हैं।

बाहर सडक पर आकर मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने महीनो से जेब-खर्च से बचाकर पूरी आस्तीन के स्वेटर के लिए कुछ रुपये सजोकर रखे थे। इस ठिठुरती हुई सर्दी में उसे पहनकर मुझे शायद उतनी खुशी नहीं होती, जितनी यह सोचकर कि तुम्हारे किसी काम आयेंगे।

तुम्हारा पेन टूट गया था—फश पर गिर पड़ने से [illegible] तुम्हें कुछ लिखा रहा था, परन्तु वह था कि आगे बढ़ने का नाम ही न लेता था। मैंने वह टूटा पेन चुपके से लेकर रख लिया था और बदले में अपना नया पेन तुम्हारी ओर बढ़ाया था। पता नहीं कितने वर्षों तक वह टूटा पेन मैं जतन से सहेजे रहा ! अभी भी मेरे किसी बक्स के कोने में पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं।

दीवाली के दिन निकट थे।

गाव से पिताजी का खत आता था। घर आने के लिए लिखा था छुट्टियों मे। मा बीमार थी। किन्तु घर जाना क्या इतना आसान था ? पैदल साठ-सत्तर मील का सफ़र। रास्ते का खच। अपनी पढ़ाई का हर्जा। छोटे छोटे भाई-बहनों का पेट काटकर पिताजी मुझे खर्चा भेज रहे थे। अर्थाभाव के कारण मा का इलाज नही करा पा रहे थे। कही मा को कुछ हो गया तो सारा घर अनाथ हो जाएगा ! इस कल्पना मात्र से मैं काप-कांप उठता।

पिताजी तो जन्मजात संन्यासी थे—हर अथ मे सतयुगी। पुरोहिताई की आकाश वृत्ति भी अब चल न पा रही थी। अधिकतर घर मे ही बैठे रहते। दिन रात गीता-पाठ चलता—'यदा-यदा हि धमस्य ।' मा को कभी-कभी 'विष्णुसहस्रनाम' सुनाने लगते तो दिन भर के काम से थकी मा को कब नींद आ गयी, उन्हें पता ही न चलता।

रात को तीन बजे से ही भजन शुरू हो जाते।

जब कभी घर जाता, बसन्त शरारत से देखता हुआ कहता, "दद्दा, मल्ले घर प्रेम 'दा' के घर चोरी हुई। छगा का नाज भी उठ गया, परन्तु हमारे यहा कभी चोरी नहीं हो सकती।"

"क्या कुछ भी नही बचा अब चुराने के लिए ?" मैं यों ही हसता हुआ कहता तो वह चहक पड़ता, "न्न ! नहीं, नहीं। इसलिए नहीं। पिताजी सारी रात जागते रहते हैं न ! बेचारा चोर खटकन तक ही आकर लौट जाता होगा।"

यह सुनाकर शायद वह चाहता था कि मैं भी उसकी हसी मे हसू, पर मैं चाहकर भी हस न पाया। एक अजीब-सी गम्भीरता मुझे घेर लेती

तरह।

सुबह आंगन मे खड़ा उगते सूरज को देखता रहता—ठगा-ठगा सा। इतना गहरा, लाल सूरज!

दुनिया इतनी सुन्दर है, इसका अहसास पहले कभी क्यो नही हुआ था?

सुबह की बस म तुम्हें जाना था। पर मैं सारी रात जागता रहा—पता नहीं क्या-क्या सोचता रहा? मैंने तुम्हारे नाम एक लम्बा-सा पत्र लिख डाला था, बिना किसी सम्बोधन के। बार-बार पढ़ने के बाद, पता नहीं क्या सोचकर फिर मैंने उसे फाड भी दिया था। मेरी गरम हथेली मे वे फटे टुकड़े देर तक यो ही दुबके रहे घोसले स गिर पड़े चिडिया के फड-फड़ाते बच्चो की तरह। मैं उन्हें सहलाता रहा। शायद यह भूल चूका था कि वे कागज़ के निष्प्राण टुकडे हैं, जिनका कोई अथ नही, कोई अस्तित्व नही।

पर मुझे उनमे धडकता सा कुछ क्यो लग रहा था? इसलिए मैं मुटठी मे निममता से उन्हें भीच नही पा रहा था और न उन्हे बाहर फेंकने के लिए तैयार था। मुझे लगता था, उनका अदृश्य, अव्यक्त स्पन्दन कहीं समाप्त न हो जाए!

सब भरा भरा-सा था, फिर भी वही रिक्तता का अहसास क्यो हो रहा था? मैं अपने अन्दर एक विचित्र सी बेचैनी अनुभव कर रहा था—एक अजीब सी अव्यक्त पीडा।

पता नही यह सब क्या होन जा रहा था!

सुबह जागा ता बारिश की वजह से समय का ठीक आभास न हो पाया। जल्दी जल्दी तैयार होने लगा। शायद सात बजे की बस से तुम्हे आना था। इस समय पौने सात होन वाले थे।

कल बाजार से लौटते समय मैंने कुछ फल खरीद लिये थे—यों ही। वही लिफ़ाफ़ा इस समय मेरे हाथो में था और मैं लेक ब्रिज की दिशा म चल रहा था। नहीं-नहीं, चल नही भाग रहा था। जिस गति से मैं चल रहा था, वह भागने से किसी भी स्थिति मे कम नहीं थी।

हांफता हुआ जब वहां पहुचा तब तक तुम्हारी बस निकल चुकी थी।

हतप्रभ सा मैं देर तक अकारण खडा रहा।

बस सात बजे जाती है, इस समय सात बजने मे दो मिनट हैं, फिर बस समय से पहले कसे निकल गई? मैं भूल गया था कि मेरी घडी भी गलत हो सकती है। बस का समय पौने सात भी तो हो सकता है।

प्ले स की ओर जाने वाली हर बस के भीतर मैं उचक-उचककर झाक रहा था यह जानते हुए भी कि तुम इनमे नही हो सकती।

लौटते समय मन भटकता रहा—तुम्हारी बस हनुमानगढी पहुच गयी होगी। अब चील चक्कर के मोड पर घूम रही होगी। अब बल्दियाखान! ज्योलीकोट—काठगोदाम! हे भगवान

पश्चिम के क्षितिज पर सध्या धीरे धीरे तिर रही थी। रग बिरगा धुध सा चारो ओर अबीर की तरह बिखरा हुआ था। सामने खडा बजरी का स्लेटी पहाड कट-कटकर नीचे सरक आया था। एक रीता पुराना ट्रक बजरी भरने के लिए हथलीनुमा उस पहाडी पर चढ रहा था—मथर गति से—हाफता हुआ। पहाडी के ऊपरी भाग की नगी चट्टान बहुत कठोर लग रही थी—आडी तिरछी कटी—एकदम छिछली। नुकीली। उसकी चोटी के अन्तिम सिरे पर देवदार के हरे भरे वृक्षो का झुरमुट था, आसमान को छूता हुआ। डूबते सूरज की अन्तिम किरणें उनकी नुकीली चोटियो पर रह रह कर झाक रही थी। नीचे की ढलवा पहाडी पर चीड के छितरे वक्षो का अन्तहीन फलाव। उस पार कोई गाव सा दिखलाई द रहा था। घरो की सफेद दीवारें साफ झलक रही थी—शायद खुर-पाताल होगा।

चील चक्कर के उस मोड पर पता नही मैं कब से बैठा था? साप की तरह बल खाते घुमावो को अचरज से देख रहा था। काई गाडी क्षण भर झलक दिखाने के बाद सहसा ओझल हो जाती। तभी दूसरे मोड पर एक और झलक दीखती फिर गायब! कारो, बसो की यह आखमिचोली देखने के लिए नही, पता नहीं क्या मैं इधर निकल आता जब भी तनिक अवकाश मिलता।

यहा एकान्त रहता, निपट अकेलापन! ये मोड, य पहाडिया—उस पार क्षितिज तक फैला धुधला धुधला जादुई दृश्य! पहाड और मदान के सधि-

स्थल के समीप बिखरा तराई-भाभर का विस्तीर्ण क्षेत्र। रात के अँधियारे में सारा दृश्य स्वप्न-लोक जैसा लगता। टिमटिमाते [illegible] बत्तियाँ क्षितिज से मिला मैदानी भागों का अन्तिम छोर। कभी-कभी ध्यान से देखने पर पीला प्रकाश बिन्दु धरती पर सरकता, चमकता, ओझल होता दिखलायी देता—शायद कोई चलती हुई रेलगाड़ी हो। [illegible] के शुभ्र, स्वच्छ प्रकाश में कभी पारे की तरह चमकती [illegible] कुछ लकीरें खींचतीं नदियों या नहरों के प्रतिबिम्ब।

मैं एक पत्थर पर बैठा, सब कुछ देखकर भी कुछ नहीं देख रहा था। सुबह समय पर क्या नहीं पहुँचा? इसी का पश्चात्ताप अभी तक डस रहा था।

इसी सड़क से तुम्हारी बस गयी होगी न!

और इसी सड़क से एक दिन तुम्हारी बस आयेगी।

प्लेन्स की ओर ले आने वाली प्रत्येक बस की ओर मैं जिज्ञासा से देखता। हर बस मुझे अच्छी लगती। तुमसे जुड़ी प्रत्येक वस्तु में मुझे एक प्रकार का अपनापन सा लगता था।

ज्यों-ज्यों साँझ घिर रही थी, सड़क पर गाड़ियों की हलचल कम होती चली जा रही थी। आसमान इस समय बिल्कुल साफ़ था। कहीं बादलों का एक भी फाया नहीं। अमावस से पहले का आकाश जगमगाते तारों से भर आया था। हवा में नमी थी हल्की-हल्की शीतलता।

पत्थर पर से उठा तो पीछे से पैंट एकदम ठंडी हो आयी थी। हाथ-पाँव शिथिल। पता नहीं क्यों मैं थका थका सा अनुभव कर रहा था।

कच्चे रास्ते के किनारे नुकीली घास-सी उग आई थी—लाल रंग की। कुछ तिनके यों ही बेरहमी से तोड़कर मैं दाँतों से काटता रहा और फिर पक्की सड़क पर आकर ठिठक गया।

मैं लौटने लगा था अब।

सारे हॉस्टल में अकेला प्राणी रह गया था। छुट्टी में सब अपने अपने घर चले गये थे। इसलिए उस भयावह एकान्त में जाने का कोई उत्साह नहीं रह गया था।

अभी कुछ ही कदम चल पाया हूँगा कि पीछे से पीली रोशनी की

दुहरी नहर-सी दूर स अपनी आर आती दिखलायी दी और मेरे पास स गुजरकर अगले मोड़ पर ओझल हो गयी। केवल पेट्रोल का धुआं सड़क पर कुछ क्षण के लिए बिखरा और फिर गहरा सन्नाटा।

धीरे धीरे आग बढ़ रहा था मैं। अब चढ़ाई थी। ऊपर से मिट्टी पत्थर खिसकन के कारण यहा पर सडक बहुत तग हो गई थी। मैं सभल सभलकर आगे निकल ही रहा था कि दूर सामन स एक छाया सी अपनी ओर आती दिखलाई दी। उस बढ़ते अधियारे म सहसा जो पहचान पाया, वह मात्र भ्रम लगा। फिर भी चुम्बक की तरह अनायास मैं आगे खिचता चला गया।

"मेहा—तुम !" अचरज स मेरे होठ खुल आय।

तुम मेरे बहुत करीब आकर ठिठक पडी थी—'आप !"

दौडने के कारण तुम हाफ रही थी। तुम्हारे खुले हुए बाल हवा म उड रहे थे।

मुझे सच नही लग रहा था। इस समय तुम यहा ?

"यहा क्या कर रहे हैं आप ?" तुमने विस्मय से पूछा था। तुम अभी तक आश्चय से मेरी ओर देख रही थी।

पर'तु मेरा ध्यान अभी तक तुम्हारे प्रश्न की ओर नहीं था। अभी तक अपनी आखो पर मुझे विश्वास नही हो पा रहा था। कही यह जीवित स्वप्न तो नही।

'तुम तो चली गई थी सुबह !" मैं स्वय बडबडा रहा था।

पर तुम सहमा मुसकराई थी चली जाती तो कसे होती यहा ?

कुछ रुककर तुमने पूछा था, 'यहा आप अकेले क्या कर रहे हैं ?'

'ऐस ही घूमने चला आया था। शहर का शोरगुल अच्छा नही लगता ।"

'इस अधेरे मे—घूमने ?'

'तो उजियाला कहा से लाऊ ?" गहरा सास भरकर मैं कह रहा था, जैसे स्वयं से बातें कर रहा हू।

'सुबह सात को बस से जाना था तुम्हे तो ?" मुझे सहसा याद आया।

"जाना तो था, परन्तु अकल ने ऐन वक्त पर मना कर दिया था—

अकेले जाने के लिए। बोले—कल साथ साथ चलेंगे। अकल का भी कुछ काम है—बरेली।"

तुम अभी तक भी पूरी तरह मयत्त न हो पायी थी। ठगी ठगी सी खडी थी अचरज मे डूबी। तुम्हारी गरम गरम सासो का स्प दन मैं साफ अनुभव कर रहा था।

'सच नही लग रहा !" मैं जैसे शू य म अटका हुआ था। एक विस्मय भरी प्रफुल्लता अपन मे समेट नही पा रहा था।

"अरे, ऐसे ही खडे रहोगे या चलोगे भी !" तुम हस पडी थी जोर से। तुम्हारे आने की आवाज आज पहली बार मैंने सुनी थी। कितनी मोहक थी तुम्हारी हसी।

' इतनी सर्दी मे बिना कपडे पहने निकल आये ! देख नही रह हैं, कितनी ठडी हवा चल रही है थुरथुर !" तुमन मेरी बाहो को छुआ। हाथो को छुआ, ' ह भगवान, कितने ठडे !" तुम चीख सी पडी थी।

उस अधियारे ही म झटक से पीछे हट गया था। तुम्हारे स्पश मात्र से मरा सारा शरीर झनझना आया था। कही कोई देख लता तो !

मरी प्रतिक्रिया पर तुम हस रही थीं। हसती रही दर तक—पागलो की तरह।

आज तुम इतनी मुखर क्यो लग रही थी ? अटूट एकान्त की वजह से या इस अप्रत्याशित मिलन के कारण ?

तुम्हें देखकर कभी लगता ही नही था कि तुम्हारे होठो से स्वर भी फूट सकते हैं कभी ! निगाहें ऊपर उठाकर भी तुम देख सकती हो—भूल से।

तुम चुप थी।

मैं भी।

अधकार को चीरता तभी हान बजा, जिसकी प्रतिध्वनि देर तक घाटियो मे गूजती रही।

"अरे, हम क्यो खडे हैं ? चलिए न, ड्राइवर रुका इन्तजार कर रहा है। उसे अभी लौटना भी है !" तुमने अचकचाकर कहा और मेरी बाह पकडकर चलना आरम्भ कर दिया था।

तुम बहुत सट सटकर चल रही थी—हवा मे उडी-उडी-सी।

"जीप की रोशनी म आपकी-सी आकृति देखकर पहले तो मैं चौकी। सच नही लगा कि इस समय आप यहां हो सकत हैं। पर ज्या ही जीप आपकी बगल से गुजरी, मैं चीख सी पडी। ड्राइवर से गाडी रोकन के लिए कहा तो वह कुछ समझा नही। रुकवात रुकवाते भी दो मोड पार हो गये।" तुम बहकी बहकी सी कह रही थी वायु म तिरती हुई सी।

"इस बेवक्त आ कहां स रही था?" मैंने तुम्हारी आर देखा।

'पटवाडागर गयी थी सोनल जिज्जी से मिलन। अकल ने कहा, जीप ले जाओ। आठ बजे तक हर हालत म लौट आना। वही स आ रही हू।"

'हमारी सोनल जिज्जी आपने देखी तो हैं न?" तुमने कुछ रुककर पूछा 'कुछ ही दिन पहल तो आयी थी हमारे घर—ऐक्स रे के सिलसिल म!"

'हा, तुम ठीक ही तो कह रही थी! मुझे याद आया, शायद मैंने देखा भी था उन्हे। उस दिन तुम आधी पढाई म ही उठकर चली गयी थी। डॉक्टर दत्ता भी उन्हे देखने पटवाडागर यदा कदा जाते रहे हैं।

'अब कैसी हैं?' मैंने पूछा था।

"ठीक है। अम्मा ने लिखा था—आत समय उन्हें देख आना। बीमारी के कारण बिचारी पिछले एक साल से बरेली नही जा पायी।"

"उनक पति वही लैब म है क्या?"

"जी हा साइंटिस्ट हैं। जीजा जिज्जी दोनो बहुत भले हैं। रिश्ते म कुछ दूर के हैं, परन्तु हमे सगो से ज्यादा मानते हैं।"

हम चलत रहे।

तुमने अब पता नही क्या सोचकर बातो की दिशा बदल दी थी। तुम एकालाप करती हुई कहती जा रही थी, 'सच्च, आप मिल गये, कितना अच्छा हुआ! आज सारा दिन आपके ही बारे म सोचती रही। मल्लीताल तल्लीताल, माल, लेक ब्रिज—जहा-जहा भी गयी निगाहें आपको ढूढती रही। अभी पटवाडागर जाते समय, सडक से आपके होस्टल की ओर झाका। सच, एक चिडिया तक नही दीखी!" कहते-कहते तुम्हारा स्वर भर आया था।

अधियारे म मैंने तुम्हारा चेहरा खोजने की कोशिश की, परन्तु कुछ

भी साफ दीख न पा रहा था। केवल तुम्हारी टूटी आवाज आ रही थी—कम्पन-भरी।

"पता नही क्या हो गया है मुझे !" तुम्हारा डूबता हुआ स्वर था, 'न पढ़ने मे मन लगता है, न खेलने खाने मे ही। दिन रात अकारण परेशान रहती हू। एकान्त मे बैठकर कभी रोने को मन होता है। अपनी परेशानी मैं किससे कहू !" तुम नन्ही बच्ची की तरह सचमुच रो रही [illegible] सिसक सिसककर।

मेरा शरीर पत्थर बन गया था।

क्या कहू, क्या न कहू—मुझे कुछ सूझता नही था।

अब हम जीप के नजदीक पहुच चुके थे। पीली हेड लाइटस जल रही थीं। ड्राइवर परेशान था, इस अप्रत्याशित विलम्ब के कारण।

अब तक तुमने अपने दुपटट से जल्दी जल्दी आसू पोछ लिए [illegible] बिखरे हुए बालो को यो ही पीछे समेट लिया था और तुम पाषाण प्रतिमा की तरह चुप थी—एकदम गूगी सी।

ड्राइवर ने कुछ कहा, परन्तु तुमने कोई उत्तर नही दिया था।

ड्राइवर की बगल वाली सीट पर पहले तुम बठी। फिर बाए किनारे की तरफ तनिक जगह बनाकर मुझे बठने के लिए कहा।

सकुचाया सा मैं चुपचाप बैठ गया था।

जगह कम थी, बहुत कम, बित्तेभर भी नहीं।

जीप स्टार्ट हुई ही थी कि एक झटका लगा। मैं सामने वाले शीशे से टकरा ही गया होता, यदि फुर्ती से तुमने पकड न लिया होता।

"आप आराम से बैठिए न !" कहती हुई तुम किंचित और परे हट गयी थी।

मैंने सीट के सामने, सिर की तरफ़ लगी लोहे की छड जोर से जकड ली थी। तुम पर तनिक भी दबाव डाले बिना मैं घुमावदार मोडों पर जीप के झटके सहता रहा। मुझे पता ही नही चला, कब जीप हनुमानगढी से आगे बढ़ी, कब उसने चुगी आफिस की सीमा पार की।

होस्टल के ऊपर, सडक पर तभी झटके से जीप रुकी।

शायद तुमने ही रुकवाई होगी।

उछलकर मैं उतरा।

तुम्हारे चेहरे म वही गम्भीरता अभी तक बनी थी—भरे हुए बादलो का-सा भारीपन !

"मैं चलू ?"

तुमने कुछ भी नही कहा, उसी तरह देखती रही थी।

सीढ़ियाँ उतरता नीचे चला आया था, तब भी शायद तुम उसी तरह थी।

3

कमरा खोला ही था कि पावा के पास फश पर एक अन्तर्देशीय पडा था—पानी से भीगा। बाहर से ही देखकर समझ गया था कि वसन्त का होगा।

उसने लिखा था—अम्मा को परसो मायावती अस्पताल मे भर्ती करा दिया है। डॉक्टर कहते हैं—जल्दी ही ठीक हो जायेंगी। आप चिन्ता न करना। पिताजी ने कल लोहाघाट के डाकखाने से आपके नाम मनीआर्डर भेज दिया है। इस महीने का खर्च चल जायेगा। आपकी चिट्ठी न आने से पिताजी परेशान रहते हैं। अम्मा रोती रहती हैं। आप पत्र क्यो नहीं देते, दद्दा ?

यह सब होना है, इसका अहसास था मुझे।

पत्र बन्द करके मैं दरवाजे के पास कुर्सी खीचकर बैठ गया। पता नही रोशनी क्यो चुभ रही थी। इसलिए स्विच ऑफ कर, अंधेरे में बठा बाहर की ओर शून्य दृष्टि से ताकता रहा।

छोटी दीवाली के दीप दिपदिपा रहे थे, किन्तु छात्रावास की सीमारेखा के भीतर निविड अन्धकार था। वाडन अपने परिवार के साथ घर गये थे—मुरादाबाद। ले-देकर एक चौकीदार बचा था। कल से वह भी नदारद था। जुए मे मस्त होगा शायद !

कमरे से यो ही बाहर निकल आया था मैं।

दरवाजे के पास लगा रात की रानी का पौधा महक रहा था। बैरक-नुमा सारी इमारतें अंधेरे में डूबी थी। दूसरे विश्वयुद्ध के समय सैनिकों के आवास के लिए बनायी गयी ये इमारतें अब छात्रावास में बदल दी गयी थी। टीन के दरवाजे, बायी ओर लम्बा चौड़ा धोबीघाट (जिसकी अब कोई उपयोगिता नही रह गयी थी), नीचे वीरभट्टी वाली सड़क के ऊपर बनाया गया कामन मेस—जिसमे अब हमारी रोटियां सिकती थी, अतीत की अनेक स्मृतियां अपने में समेटे हुई थी।

ठीक वैसी ही एक जीप अभी सड़क से गुजरी थी जिस पर अभी कुछ समय पहले तुम बैठी थी! शायद तुम्हे छोड़कर वापस पटवाडागर जा रही हो।

तुम्हारा अकस्मात यो मिलना, तुम्हारी आत्मीयता भरी बातें, तुम्हारा आंसुओं में भीगा चेहरा अब तक मेरी आंखों के आगे घूम रहा था।

तुमने जिस तरह मेरा हाथ पकड़ा था, क्या वह सायास नही था? तुम सट सटकर चलना क्यो चाह रही थी? कही कोई देख लेता तो!

पाप-पुण्य की परिभाषा मैं नही जानता, भले बुरे का विश्लेषण भी सम्भव नही। मैं इतना ही जानता था मेहा, जो कुछ हो रहा था, वह मुझे शुभ नही लग रहा था कहीं।

तुम्हारा यह अप्रत्याशित परिवर्तन मुझे भीतर तक झकझोर गया था।

बाहर सर्दी बढ़ने लगी थी। अक्तूबर के बाद शाम से ही हवा चुभने लगती थी। मैं गमगीन-सा भीतर चला आया था। किवाड़ मूदकर बिस्तर में घुस पड़ा था। कोर्स की किताबो का मेज पर ढेर लगा था। दो-तीन पुस्तकें उठाकर सिरहाने के पास रख दी थीं मैंने—किन्तु उनमे भी मन टिक नही पा रहा था। सारे शब्द मिलकर एक हो गये—स्याही के धब्बे की तरह! मैं चाहकर भी कुछ नही पढ़ पा रहा था—न मालूम क्यो?

मेरा मन सचमुच उदास था, अनेक झझावातो से घिरा!

चित्त किसी तरह जब शान्त न हुआ तब मैंने रैक मे से स्वामी विवेकानन्द की एक पुस्तक उठा ली। पहले अध्याय से दूसरे अध्याय तक पृष्ठ पलटता चला गया, किन्तु क्या पढ़ रहा हूं, मुझे पता ही नहीं चल पा रहा था।

यो ही पन्ने पलट रहा था कि पुस्तक के बीच म पीले रग का कागज का एक टुकडा दीखा, पेंसिल से जिस पर मैंने कभी लिखा था—माग, तुझे मिलेगा। ढूढ़, तू पायगा। खटखटा, तेरे लिए द्वार अवश्य खुलेंगे।

बाइबिल से उद्धृत य सूक्त वाक्य मैंने न मालूम कब लिखे थे ? क्यो ? क्यो यह टुकडा वर्षों से पुस्तक चिह्न की तरह पडा है ? मेरी समझ म कुछ भी न आ रहा था। कवल इतना ही समझ रहा था मैं, कि मागने पर भी मुझे जीवन म कुछ मिलगा नही, ढूढने पर भी मैं कुछ पा नही सकूगा, खटखटाने पर भी मेरे लिए कभी कोई द्वार खुलेगा नही।

मेरा शरीर तप रहा था।

आग की लपटो से मैं घिरा था !

सुबह अभी जागा ही था किसी ने दरवाजे खटखटाये।

टीन के दरवाजो पर थोडी सी आहट ही अधिक शोर का एहसास जमाती है न !

मैं हडबडाता हुआ जागा।

कुण्डा खोला तो तुम्हारे अकल का नन्हा नौकर सामने खडा था।

'आपको बीबीजी ने बुलाया है।"

"कौन बीबीजी ?" मैंने आख मलते हुए पूछा, "अनुमेहा ने ?"

'जी, नही।"

'मिसेज दत्ता ने ?'

जी हा।'

'क्या काम है ?" मैंने उत्सुकता से देखा।

"पता नही। हुजूर हमस तो बोला बुलाने के वास्ते !"

"ठीक है, तुम जाओ। मैं आ जाऊगा।"

मेरे यह कहने क बावजूद वह खडा रहा, ' हुजूर, साथ-साथ बुला लाने को बोला है। सहमत सहमते उसने कहा।

मैंने झटपट हाथ मुह धाये। कपडे बदले। जूत के फीते बाध ही रहा था कि खयाल आया, 'डॉक्टर साहब चले गये बरेली ?"

जीई।"

"साथ मे कौन था ?"

"महा बीबी। सुबह तडके निकल गये !"

फिर श्रीमती दत्ता क्यो बुला रही होगी ?

कही ड्राइवर ने कल हमारी बातें तो नही सुन ली ? हमारे सम्बन्धो के बारे मे कही उन्हे किसी से पता तो नही चल गया ? तुम्हारे मुह से ही जाने अनजाने कोई बात निकल पडी हो !

सुहास उस दिन जाते समय कह गया था—श्रीमती दत्ता कौसानी जा रही हैं किसी काम से। अकेली जाना ठीक नही। इसलिए डॉक्टर दत्ता मुझे भी साथ चलने के लिए कह रहे हैं। छुट्टिया तो अब हा ही रही हैं। सोचता हू, लौटते समय वहाँ से घर—मुक्तेश्वर चला जाऊ गा।

"बीबीजी बाहर से कब लौटी ?" मैंने ताला लगाते हुए पूछा।

"जी वह तो कल ही आ गयी थी।"

'कल ?'

कल तो मैंने देखा नही था, पढाते समय।

"साथ मे सुहास भी था ?"

"सा ब, मुझे पता नही।"

दो टूक उत्तर देकर वह चुप हो गया, परन्तु मेरे चारो ओर अनेक प्रश्न घिर आये थे।

ऐसी भी क्या आवश्यकता आ पडी, जो इसी समय बुला रही हैं श्रीमती दत्ता ? मुझे आज कपडे धोने थे, कुछ नोट्स तयार करने थे, घर चिट्ठी भेजनी थी। पता नही, अम्मा का स्वास्थ्य कैसा होगा ?

'ब्लू कालेज' पहुचते पहुचते दस बज गय थे।

डाक्टर दत्ता के घर मे न होने के कारण आज भीड कुछ कम थी।

ड्राइगरूम मे जाकर मैं बैठा ही था कि नौकर ने बतलाया, "आपको तो भीतर बुला रही हैं "

यद्यपि महीनो से पढ़ा रहा था, परन्तु इस कॉटेज के भूगोल से अब तक परिचित न हो पाया था। दो कमरे पार करने के बाद सीढिया थी। उनक ऊपर अन्तिम छोर वाल कमरे मे मैंन डरते डरते प्रवेश किया।

"आपको जिस काम के लिए बुलाया था, वह तो हो गया। खर,

बैठिये न !" श्रीमती दत्ता ने सामने वाली कुर्सी की ओर इंगित किया।

इतनी तसल्ली से बैठ, मैंने उन्हें पहले कभी नहीं देखा था—एकदम उपराम ! शान्त !

गुदगुदेले सोफ़े में धंसी वह कोई रंग बिरंगी पत्रिका पढ़ रही थी। सामने डिबियानुमा शीशे की ऐश-ट्रे के ऊपर तिरछी रखी सिगरेट सुलग रही थी। धुए की पतली लकीर सी ऊपर उठ रही थी।

"अनु पढ़ने में मेहनत तो कर रही है न ?" उन्होंने लेटे-लेटे पूछा।

'जी, हां !"

"इस बार होम-ऐक्ज़ाम में मार्क्स तो अच्छे लायी है ।"

"जी !"

"आप घर क्यों नहीं गये छुट्टियों में ?" उन्होंने जैसे हवा में प्रश्न उछाला। उनकी बातों से लग रहा था, वह सारे प्रश्नों को गम्भीरता से नहीं ले रही हैं बल्कि कुछ पूछना है, इसलिए पूछ रही हैं।

"पढाई में मेहनत करनी है ।' मैंने रुक रुककर उत्तर दिया।

"आपका चेहरा फ़ोटोजनिक लगता है। आप फिल्मों में क्यों नहीं चले जाते ?'

'जी फिल्मों से नैतिक पतन होता है व्यक्ति का !"

मेरे इस उत्तर पर वह हंस पड़ी थी, 'नैतिक पतन से आप घबराते क्यों हैं ? नैतिक पतन और नैतिक उत्थान दो अलग-अलग वस्तुएं तो नहीं ! एक ही चित्र के दो पहलू हैं न !'

उनके इस तर्क को स्वीकार करने के लिए मैं कतई तैयार नहीं था, इसलिए चुप हो गया।

"सुना है, आप अच्छे तैराक हैं। झील में भी तैर लेते हैं।"

'जी—कभी-कभी !"

'वक्त मिले तो कभी हमें भी सिखलायेंगे ?" उन्होंने उत्सुकता से पूछा था।

परन्तु मैं चुप रहा, झिझक के कारण।

उन्होंने फिर कुरेदा तो मैंने कहा, "आप खुले तालाब में तैरेंगी ?"

मैं कह ही रहा था कि वह ठहाका लगाकर हंसी। न जाने मेरी आकृति

के भावो से उन्होंने क्या अनुमान लगाया, "आप परेशान क्यो हो रहे हैं, मास्टरजी ? आप सिखलाने वाले तो बनिय ! हम तालाब म नहीं, सागर मे तैरेंगे—आपके साथ—दिन दोपहर !"

मेहा, मुझे सूझ न रहा था कि अब क्या कहू ? मुझसे वह उम्र म बडी थीं, अनुभव मे बडी—हर लिहाज से।

तभी उन्होंने चाय मगायो।

स्वय ही बनाकर एक प्याला मेरी ओर बढ़ाया। मैं देख रहा था, मेरे प्याले म उन्होंने सारा दूध उडेल दिया था—बातो-ही-बातो मे।

"सुना है, अध्यात्म मे आपकी विशेष रुचि है ? वेद पुराण पढ़ते हैं ?"

मैं हसा, "जी नहीं ! पिताजी पुरोहिताई करते हैं न ! बाल्यकाल से ही सस्कृत मे रुचि रही। उनके धार्मिक ग्रथो का भी पारायण करता रहा। यों अध्यात्म तो बहुत ऊची चीज होती है। हमारे-आपके वश की कहां ? उसके लिए तो युग युगो की साधना चाहिए !"

मैंने देखा श्रीमती दत्ता के होठो पर आती हसी बडी मुश्किल से रुकी है।

"होरस्काप देखना तो जानते होगे ?"

"जी, पिताजी अच्छा देख लेते हैं।"

"पामिस्ट्री ?"

" "

"सुना है अध्यात्म से आत्मा को बडी शान्ति मिलती है ! बडी शक्ति होती है उसम। आग पर तो आप भी चल लेते होगे ?"

'नहीं-नही ! जी—!"

वह हस पडी थी जोर से, "बडे भोले हैं मास्टर जी, आप ? डॉक्टर साहब ने आपको ठीक ही रखा है, बच्चो को पढाने के लिए !"

श्रीमती दत्ता किस अथ म यह सब कह रही हैं, उस समय मेरी समझ मे न आ पाया था।

कुछ देर बैठकर मैं चलने को हुआ।

"कभी कभी आप आते रहिए न ? आपसे ज्ञान की कुछ बातें हम भी सीख लेंगे !"

"जी—।"

'कल शाम आइये ट्यूशन के समय ।" हसते हुए उन्होंने कहा था।

इतनी रहस्यमयी थी वह हसी कि मैं घबरा गया था।

एसी उजड़ी-उखडी बातें क्यो की होंगी श्रीमती दत्ता ने? नैतिक उत्थान या पतन मे *क्या कोई भेद नहीं ? किसी सम्भ्रान्त महिला का खुले तालाब मे* नहाना अच्छा लगता है—वह भी पर-पुरुष के साथ ? सीधा सच्चा होना या बच्चो को पढ़ाना गुनाह है ? श्रीमती दत्ता का कहना था कि मन की शाति के लिए उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है। क्या ऐसे दृष्टि-कोण से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ? नहीं, नहीं—एसे अनेक प्रश्न लौटते समय मुझे मथते रहे।

तब मेरे सस्कार ही ऐसे थे कि इनके अतिरिक्त और कुछ सोच पाना *मेरे लिए सभव भी नहो था शायद।*

श्रीमती दत्ता के विचारो मे ही नहीं, जीवन म भी उलझाव सा लगा मुझे। दो चरम बिन्दुओ पर जी रही थीं वह। सुहास ने एक दिन बातो ही-बातों म उनके बारे म जिस रहस्य का उदघाटन किया था, उसस उनके एक और व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता था। अन्त मे उसने जो कुछ कहा था, उसका सार था—श्रीमती दत्ता को समझ पाना भगवान को समझ पाने की तरह दुष्कर है। जितनी वह नास्तिक लगती हैं, उतनी ही आस्तिक भी हैं। *उनके व्यक्तित्व म जितनी कठोरता झलकती है, उसके अनुपात मे वह* कई गुना अधिक सहृदय हैं, उदार भी। डॉक्टर दत्ता के प्रति जिस हद तक जुड़ी हैं उसी सीमा तक उनस अलग भी हैं। अनेक धरातलो पर एक साथ जीने की क्षमता है उनम। ऊपर से सपाट समतल दिखलायी देने पर भी कई सिलवटें हैं *उनके व्यक्तित्व म—खामियां और खूबियां साथ-साथ।*

दूसरे दिन शाम को उन्होंने फिर बुलाया था न—ठीक ट्यूशन के समय, जिस समय तुम्हें पढ़ाया करता था।

पर ही टिका रहता था। इसलिए मैं आपको हमेशा मास्टरजी कहती हू। किन्हीं दो व्यक्तियों में इतनी समानता हो सकती है—सच नहीं लगता !" वह हवा म खो गयी थी कहीं, "मैं बहुत शरारती थी न ! उन्हें खूब तग किया करती थी। आज आपको देखकर पता नही क्या हो गया था ?"

कहते कहते उनका चेहरा गभीर हो आया था।

सामने बिखरे बालों को झटके के साथ पीछे फेंकती हुई वह उठ खडी हुई, "चलिए, ऊपर चलते हैं ।"

मैं चुप।

"चलिए।"

इस बार आग्रह टाल न सका। उनके साथ-साथ मैं भी चलने लगा था—यन्त्रवत्।

वह सीधे उसी कमरे मे गईं, जिसमें उस दिन बैठी थीं। ऊपर की मजिल के अन्तिम छोर पर होने के कारण एकान्त अधिक था।

आज वह सोफे में नही धसीं बल्कि कुर्सी पर ही बैठ गयी थीं। सामने की कुर्सी खींचकर मुझे बैठने के लिए इशारा किया।

हमारे बीच मे लाल सगमरमर की एक छोटी-सी मेज थी। उसके ऊपर कोई पत्रिका बिखरी हुई थी।

"आपने मुझे माफ तो कर दिया न !" वह मुसकराइ।

उनकी मुसकराहट सहज ही नहीं, आत्मीय भी लगी।

मैं भी अपनी मुसकान छिपा न पाया, "आप तो मुझसे बडी हैं ।"

"तो क्या भूल बडो से नही होती ?" वह हस पडी थी।

तुम्हारी तरह उनकी हसी भी बडी मोहक होती थी—भीतर कहीं दूर तक गुदगुदाने वाली।

"आपकी इजाजत हो तो ।" उन्होंने सन्नाटा तोडते हुए, बडे सयत स्वर मे कहा, "एक सिगरेट पी लू ?"

मेरे उत्तर से पहले ही टिन के गोल डिब्बे से एक कीमती सिगरेट निकालकर, तराशे हुए अपने गुलाबी होंठों पर लगा ली थी।

उनके होंठ सचमुच कितने सुन्दर थे ! अब तक की जिन्दगी में इतने आकर्षक होंठ शायद ही मैंने पहले किसी महिला के देखे हों !

"जब हम लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ते थे, तभी से इसकी कुछ ऐसी लत पड़ी कि अब छुटाए छूट नहीं पा रही है। बाहर तो नहीं हां घर पर कभी-कभी बोरियत मिटाने के लिए अवश्य पी लेती हूं। आप पियेंगे?"

'जी, आदत नहीं।" मैंने झिझकते हुए कहा था।

' वे तो मेरी हर बात मान लेते थे। डैडी के डिब्बे से कभी-कभी स्वयं ही निकालकर पी लिया करते थे ।" उन्होंने मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए देखा।

सिगरेट का डिब्बा हौले से मेरी ओर बढ़ाया, आज पी लीजिए न! सच, पाप नहीं लगेगा। लगेगा भी तो प्रायश्चित्त कर लेंगे मन्दिर जाकर।'

खुला डिब्बा अब मेरे हाथ में था।

मैं कोई निर्णय लूं इससे पहले ही उन्होंने माचिस जला दी और जलती तीली मेरी ओर बढ़ाई। विवश भाव से उनकी ओर देखकर, एक सिगरेट यों ही हाथ से पकड़कर जलाने लगा तो वह हंस पड़ी 'आप अछूत नहीं हो जाएंगे मास्टरजी! पीजिए! होंठों पर लगाइए तो सही। सच आप कितने खूबसूरत लगते हैं—हम भी देखें!"

श्रीमती दत्ता आज यह क्या कह रही थीं!

मैं देखता रहा तनिक परेशान-सा।

"आप तसल्ली से बैठिए न! मेरी ओर देखकर बतलाइए—मैं चश्मा लगाकर कैसी दीखूंगी?"

'बहुत अच्छी '

इस पर वह हंस पड़ी थी, "नहीं-नहीं आप मजाक कर रहे हैं। बुढ़िया लगूंगी बाबा एकदम आण्टी। इसीलिए तो पहनती नहीं। डाक्टर दत्ता तो कई बार कह चुके हैं।'

अभी बैठे कुछ ही क्षण बीते होंगे कि वही नन्हा-सा नौकर ट्रे में चाय सजाकर ले आया।

'आपके लिए दूध मंगाऊं?'

'नहीं-नहीं ।"

'संकोच न कीजिए। घर आपका है। आप आ जाते हैं तो हमें अच्छा

लगता है। हमारे मास्टरजी तो हमारे ही मकान में रहते थे—फेमिली-मेम्बर की तरह। आप कहें तो एक कमरा खाली करवा दूं अभी ?"

"जी, नहीं-नहीं। होस्टल में पढ़ाई अच्छी होती है ।" मैंने घबराकर कहा।

इस पर मिसेज दत्ता हंसने लगी थीं, "आप परेशान न होइये। आप पर दबाव नहीं डालेंगे। जैसी आपकी इच्छा ।"

वह चाय बनाने लगी थीं अब।

एक प्याला मेरी ओर बढ़ाया

"सच, वे दिन कितने अच्छे थे ! घर के सामने ही बाग था। कच्ची अमिया तोड़कर खाने में कितना मजा आता था ! हमने तरह-तरह के तोते पाल रखे थे। चार-पांच तो बिल्लियां ही थीं—कोई नीली आंखों वाली, तो कोई पीली। एक बिल्ली की एक आंख गहरी नीली थी—कंचे जैसी, दूसरी गहरी लाल ! भुवन उसे बहुत छेड़ता था। एक दिन उसने पंजा मार दिया था बाएं हाथ में। डैडी फॉरेस्ट डिपार्टमेंट में थे न ! एक दिन जंगल से चकोर पकड़कर लाये थे, जो पूरे तीन साल हमारे यहां रहा। बाद में बिल्ली ने पता नहीं किस तरह नोचकर मार डाला था ।" न जाने किस उमंग में वह कहती चली जा रही थीं।

चाय बहुत गरम थी। पहले ही सिप में जीभ जल गयी थी। इसलिए अब फूंक मारकर पी रहा था।

"मुझे भी तैरने का बहुत शौक था।" चाय पीती-पीती वह बोलीं, "घर के पास ही नदी थी। परन्तु डैडी वहां जाने के लिए मना करते थे। हमारा एक पड़ोसी लड़का रुद्रप्रसाद एक दिन नदी में बहते लकड़ी के लट्ठे पर बैठा तैर रहा था कि लट्ठा उलट पड़ा। बाद में उसकी लाश ही मिली थी ।"

कुछ रुककर उन्होंने कहा, "लट्ठे पर बैठकर तैरते समय मेरी टांग में एक बार बड़ा छिलका चुभ गया था, अब तक निशान है—दिखाऊं ?"

"नहीं-नहीं, होगा ! आप झूठ थोड़े ही बोलेंगी।" मेरे मुंह से सहसा पड़ा।

श्रीमती दत्ता मेरी प्रतिक्रिया देखते ही फ्रकर हंस पड़ीं। देर तक हंसती रही निरन्तर।

हंस तो मैं भी रहा था उनके साथ अकारण—यों ही हंसने भर के लिए। पर मुझे स्वयं बड़ी अटपटी सी लग रही थी—यह खिसियानी हंसी।

"अरे, आपने मीठा तो लिया ही नहीं!" कुछ क्षण बाद उन्हें जैसे होश आया।

मेरे मना करने पर वह सुनकर बोलीं, "दीवाली की मिठाई नहीं लेंगे? मास्टरजी, हमारे यहां यह अशुभ माना जाता है।"

मैंने बर्फी का एक टुकड़ा उठाया तो उन्होंने दूसरा टुकड़ा स्वयं उठाकर जबदस्ती मेरे मुंह में ठूस दिया था।

अपने बंगले का हर कमरा उन्होंने दिखलाया, जैसे टूरिस्ट गाइड किसी प्राचीन ऐतिहासिक इमारत के महत्त्व के बारे में बतलाता है। वैसा ही उत्साह था उनकी आकृति में—"यह हमारा बेडरूम है—रात का यहां हम सोते हैं। यहां मेहमान। अनु और मजू का है यह कमरा। यह किचन"

चलते चलते अन्त में वह बाहर निकल गयी—पिछवाड़े की तरफ। मैं भी साथ-साथ चल रहा था चुपचाप—सुई के साथ लगे धागे की तरह।

दीवार के साथ टिन के शेड के नीचे जालीदार कुछ पेटियां पड़ी थीं—कतार में।

"देखिये, मास्टरजी!' उन्होंने चहकते हुए कहा, यह हमारा शम्भू है। आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त दुनिया में यह और कहीं नहीं पाया जाता। डैडी ने पता नहीं कितनी मुश्किल से इसे दिल्ली के चिड़ियाघर से मंगाया था!" उन्होंने पिंजड़े में अंगुली डाली तो सफेद तोते ने अपनी लाल चोंच उस ओर बढ़ा दी। यों ही उसे हवा में पुचकारकर वह आगे मुड़ी, 'ये हैं—शशि, दीपू तातू, काकू! खरगोश के ये बच्चे हमारी बातें समझ लेते हैं।'

आगे बड़े से जालीदार कमरे में लंगूर बैठा था। हम उधर बढ़ ही रहे थे कि वह उछलकर लकड़ी के पट्टे पर आ बैठा। पूंछ नीचे तक लटक

रही थी।

"इसका नाम हमने भालू रखा है। आप बुरा तो नहीं मानेंगे ।" उसी उत्साह में वह कहती चली जा रही थी, "इसे हम भालू नहीं, भोलू मास्टरजी कहते हैं। पहले यह बहुत शरमाता था, पर अब सबकी नकलें उतारा करता है। इसकी माँ लन्दन के चिड़ियाघर में है।"

श्रीमती दत्ता कुछ और आगे बढ़ीं।

एक छोटी-सी जाली का दरवाजा उन्होंने बड़े जतन से खोला। भीतर एक गोल पिटारी थी। उसका ऊपरी ढक्कन उन्होंने सावधानी से हटाया। काले कम्बल का जैसा टुकड़ा ऊपर खींचा ही था कि मैं तनिक पीछे हट गया।

"मास्टरजी, यह हैं हमारे हरिहर प्रसाद।"

रबर का जैसा एक हरा साँप उनके छूते ही टोकरी के भीतर अपने दायरे में सरकने लगा। फन छिपा रखा था। हां, पूछ अन्त में बहुत पतली थी—तागे के बराबर।

"इसे हम दूध पिलाते हैं। कभी कभी कच्चे मांस के छोटे छोटे टुकड़े दे देते हैं। काठगोदाम के पास के जंगल से हमने इसके खाने के लिए दीमक लगीमिट्टी भी मंगाकर रखी है। गर्मियों में इन हज़रत को स्नान भी कराना *पड़ता है, नहीं तो यह रूठ जाते हैं ।"*

उन्होंने गर्दन के पास पकड़कर उसे उठाया तो वह दूर नीचे तक सरक आया था। पूछ का अन्तिम सिरा अभी तक टोकरी के ही भीतर था।

एकदम घास के रंग जैसा था यह सांप।

चमकीली आंखें। बाल-जैसी पतली बाहर की ओर लपलपाती जीभें। बीच-बीच में गहरे हरे रंग के छींटे।

सच, मेहा, मैं घबरा उठा था। मुझे लगने लगा था कि यह महिला कहीं जादूगरनी तो नहीं!

सांझ ढल चुकी थी। चारों तरफ से अंधियारा घिरने लगा था। श्रीमती दत्ता ने जल्दी जल्दी टोकरी बंद की। बाहर से जाली का कुंडा लगाया और हाथ धोने बाथरूम में चली गयीं।

इतनी विचित्र भी कोई महिला हो सकती है, मुझे सच नहीं लग रहा था।

लगभग आधा घंटे बाद वह लौटीं तो इस बार बिल्कुल दूसरा ही रूप था उनका—एक दूसरी ही महिला दीख रही थीं। एकदम ताजी लग रही थीं—शायद अभी-अभी नहाकर आयी थीं। कपड़े भी बदले हुए थे। तराशे हुए संगमरमर सी सुगढ़ देह पर काली साड़ी! गीले बालों में बेले का जैसा सफ़ेद हार!

कमरे में उनके प्रवेश करते ही सुगन्धित हवा का तेज झोंका-सा आया।

'मास्टरजी, आप भी तैयार होइये न! आपके साथ आज पाषाण देवी चलेंगे। आप तो भगत हैं! हमें भी अपनी भगतन बना डालिये न।" हंसते हुए उन्होंने कहा था।

उनके स्फटिक दांत इस समय बहुत चमक रहे थे। बोलते समय लग रहा था, जैसे फूल झर रहे हों!

"अरे, उठिए न!

"चलिए!"

"च्च! चलिए कहां! पहले हाथ-मुंह धो लीजिये। आपके बाल कवियों-जैसे हैं, कुछ लंबे। इन्हें जतन से संवारकर रखोगे तो ठीक माइकेल मधुसूदन दत्त-जैसे लगेंगे।"

मैं खड़ा हो चुका था अब तक।

'बाथरूम में तौलिया, साबुन सब आपका इन्तजार कर रहे हैं!' उन्होंने स्नेह से तनिक झिड़कते हुए कहा।

मैं इस सबके लिए तैयार नहीं था। फिर भी सहमा-सहमा बाथरूम में घुसा।

अपनी स्थिति पर मुझे हंसी भी आ रही थी, आक्रोश भी—तरस भी।

इस कीमती साबुन का इस्तेमाल कैसे करूं? यह दुग्ध धवल तौलिया मेरे हाथ पोंछने से क्या गंदा नहीं हो जायेगा?

खैर, जैसे तैसे हाथ मुंह धोकर बाहर निकला।

"तैयार हो गये ?"

"जी—।"

"आप तो बिलकुल हीरो लग रहे हैं, मास्टरजी !" श्रीमती दत्ता बड़ी अजीब दृष्टि से मेरी ओर देख रही थीं, "लेकिन बाल काढ़ने का तरीका हमें जंचा नहीं। आपका चेहरा कुछ लंबा है न ? इसलिए सीधी पट्टी ठीक नहीं लगेगी ।" लम्बी बड़ी कंघी लेकर वह मेरे बाल सवारने लगीं।

बाल अभी काढ़ ही रही थीं कि सहसा कुछ याद हो आया। दौड़कर वह ड्रेसिंगरूम में घुसीं। अंगुली में क्रीम-जैसी कोई चीज लगाकर लौटीं। उसे मेरे सारे चेहरे पर लगाकर हौले-हौले मलने लगीं, 'अगर आप केयर नहीं करेंगे तो आपकी त्वचा रूखी हो जायेगी। अच्छी जिन्दगी जीने के के लिए आपको अभी बहुत कुछ सीखना है, मास्टरजी !" वह जैसे स्वयं को सुनाकर कह रही थी।

उनकी कोमल, मखमली हथेलियों के स्पर्श से मेरी सारी देह में एक अजीब किस्म की सिहरन सी हो रही थी। बड़ी मुश्किल से मैं अपने चेहरे पर झलकते भावों को दबाने का असफल प्रयास कर रहा था।

"जी, अब मैं खुद लगा लूंगा।"

उन्होंने शायद सुना नहीं था। वह उसी निश्चिन्त भाव से गालों पर, होंठों पर, आंखों पर, माथे पर अपनी जादुई अंगुलियां फेरती रहीं।

"देखिये अब शीशे में !" आदमकद शीशे के आगे उन्होंने मुझे ले जाकर खड़ा कर दिया। नया सूट पहनाकर जिस तरह दर्जी ट्रायल लेता हुआ हर कोण से देखता-परखता है—इसी तरह वह भी देखने लगीं।

मेरे चेहरे में सचमुच चमक आ गयी थी। इस ढंग से काढ़े गये बाल, निश्चित सुन्दर लग रहे थे।

बाहर निकले तो माल रोड पर मर्करी बल्ब टिमटिमा रहे थे।

श्रीमती दत्ता के साथ भीड़ भरी सड़क में चलना मुझे बड़ा अटपटा-सा लग रहा था। एक तरह की अव्यक्त असुविधा सी अनुभव कर रहा था। कहीं किन्हीं प्राध्यापक ने देख लिया तो मेरे बारे में क्या सोचेंगे ? कॉलेज

सैलानी घुड़सवारी का आनन्द ले रहे थे—ऊपर से नीचे तक गरम कपड़ों से लदे। पता नही, इन्हें इतनी सर्दी क्यों लगती है ?

अब एकान्त था गहरा एकान्त। बाएं किनारे की अपेक्षा यह तट अधिक ठंडा था। शायद इसीलिए इसका नाम 'ठंडी सड़क' रखा गया हो। रास्ता कच्चा था। बजरी पर जूतों की रगड़ से निरन्तर आवाज आ रही थी—कानो मे चुभती हुई सी।

इस नीरवता से मुझे अज्ञात भय-सा लग रहा था। श्रीमती दत्ता मेरे बहुत पास-पास चल रही थीं, इस अंधेरे मे उनके साथ यो अकेले जाने के लोग कितने ही अर्थ लगा लेंगे! डॉक्टर दत्ता का मुझ पर पुत्रवत स्नेह था। मैं भी उन्हें कितनी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, वह सुनेंगे तो उन पर क्या प्रतिक्रिया होगी ? सुहास इसे विश्वासघात की संज्ञा देगा। प्रो० चक्रवर्ती इस ठंडी सड़क पर रात को देर तक घूमते रहते हैं। अक्सर वह टकरा पड़ते है। कहीं उन्होंने देख लिया तो !

अनुमेहा, उस समय क्षण भर के लिए तुम्हारा भी खयाल आया था। सचमुच मेरी आत्मा कांप उठी थी। अब तक के जीवन मे मैंने ऐसा कुछ भी नही किया, जिस पर लोग आक्षेप कर सकें। लोग हसेंगे, ताने मारेंगे, मुझ पर पत्थर फेंकेंगे। क्या मैं सब सह सकूंगा ?

अपने कानो पर मैंने हथेली रख ली थी—हे परमेश्वर !

पाषाण देवी की प्रस्तर शिला पर, उस अंधकार मे मैंने माथा टिकाया तो सचमुच मेरी आंखो मे आंसू छलक आये थे।

इतना विवश मैं क्या हो गया उस क्षण ?

4

"चलिएगा नही ?" उन्होंने जैसे सन्नाटा भंग किया।

मैं वैसा ही खड़ा रहा। बड़े अनमने भाव से मैंने कहा, "चलिए।"

हम दोनों चुप थे—प्रतिमाओं की तरह खड़े। अदम ताल तक आकर उसी सड़क से अब लौट रहे थे, जिससे अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व हम आये थे।

मृदु पुजारी ने अचानत रोली के साथ साथ कुछ पीले फूल भी दिए थे—गेंदा के। अभी तक वे उनकी दाहिनी मुट्ठी में भिंचे थे।

उनके साथ चलना मुझे अब यहाँ और भी अधिक भार-सा लग रहा था। अनिच्छा से जैसे कोई रस्सी के सहारे खींचे ले जा रहा हो।

'ठंडी सड़क' जितनी सूनी हो आयी थी वहाँ एक भी प्राणी नहीं! तालाब के किनारे उग आये 'वीपिंग विलो' के सघन वृक्ष काले जल में सिर के बल तक डूब गये थे। नीली और हरी मक्री रोशनी कितनी ठंडी लग रही थी—बुझी बुझी सी बर्फीली! झील की ओर से चलने वाली हवा डँसती चली जा रही थी। ठंडे हाथों को गरम करने के लिए मैं बार-बार परस्पर मल रहा था जैसे पानी से गंदे हाथ धोते समय आपस में रगड़ते हैं। परन्तु फिर भी अंगुलियों में ताप न आ पा रहा था। बेमौसम बारिश की वजह से कितनी सर्दी बढ़ आयी थी! गरम साँस भाप जैसी लग रही थी।

"ऐसे दूर-दूर क्या चल रहे हैं आप ?"

"यों ही—!" मैंने यों ही देखा।

"ऐसे चलना अच्छा लगता है ? कोई देखेगा तो व्यर्थ में सन्देह होगा।"

"यदि हम पास पास चलें सटकर, तो सन्देह नहीं होगा ?" मैंने तनिक गम्भीरता से कहा। मेरे शब्दों में रूखेपन के साथ-साथ झुंझलाहट थी। एक तरह की खीझ भी रही हो तो आश्चर्य नहीं।

"नहीं, तब शायद नहीं लगेगा। लोग यहाँ प्रायः आते ही इसलिए हैं कि ।" कहती कहती वह चुप हो गयी थी।

प्रो० उप्रेती देखेंगे तब भी शायद कुछ नहीं लगेगा! डॉक्टर दत्ता के किन्हीं परिचित ने देख लिया तब भी नहीं! हूं! मैं कहना चाहता था, किन्तु कह नहीं पाया। झील के किनारे की तरफ पतली रस्सी की तरह बटे लोहे के तार लगे थे। उन्हीं ठंडे तारों को छूता छूता मैं अनमने भाव से चल रहा था। मेरे अन्दर एक अजीब-सा झंझावात उठ रहा था। श्रीमती दत्ता के कथन का क्या आशय है, सब मेरी समझ से परे लग रहा था। मैं उद्विग्न था, परेशान सा।

वह सहसा मेरी ओर मुड़ीं, "मेरे बारे में आपकी क्या धारणा है, विराग ? मैं कैसी लगती हू ?" उन्होंने शिशु-सुलभ जिज्ञासा से मेरी ओर देखा था। मुझे याद आया, मास्टरजी के बदले उन्होंने आज पहली बार 'विराग' कहा था।

सुलग तो मैं पहले से ही रहा था, किन्तु यह प्रश्न सुनते ही मेरे सारे शरीर में बिजली की लहर सी दौड़ गयी—आग की धधकती लकीर-सी।

मैं लपककर झट से सामने चला आया, जैसे रास्ता रोकने के लिए आगे बढ़ा हू। मुझे लग रहा था, मेरा अन्तर्मन बहुत देर से शायद इसी प्रश्न की खोज में भटक रहा था जो सहसा अब मिल पड़ा है !

उस क्षण आवेश में मेरा शरीर भीतर-ही भीतर भीगी रस्सी की तरह ऐंठ रहा था। मेरे दोनों हाथ सहसा कमर पर आ टिके थे। झटके के साथ मैंने गदन हिलाई, "आप सुन सकेंगी ?" मैंने सिर हिलाकर पूछा।

"कहिए भी !" वह शायद असमजस में थीं—मेरा यह अप्रत्याशित रूप देखकर कुछ परेशान भी। फिर भी हंसने की चेष्टा कर रही थीं।

"आपके बारे में कोई धारणा नहीं बनायी जा सकती। आप एकदम एकदम "

उनका मु ह खुल आया।

कि‍ंतु दूसरी ओर मैं बम के गोले की तरह सहसा फट पड़ा था, "आप एकदम दुश्चरित्र हैं ! नीच हैं ! अध्यात्म, मंदिर सब ढोंग हैं आपके लिए ! आप नरक के कीड़ो से भी बदतर हैं। मैं थूकता हू। थू !" मेरा सारा शरीर कांप रहा था। हमेशा शिथिल रहने वाली मुट्ठियां इस्पात की तरह भिंच आयी थीं। आंखों से चिनगारियां बरस रही थीं।

श्रीमती दत्ता का चेहरा उस पल कैसा-कैसा हो आया था, मुझे याद नहीं। उन्होंने प्रत्युत्तर मे क्या कहा, यह भी मैंने सुना नहीं। आवेश में इतना उगलकर मैं बिजली की तरह मुड़ा और बेतहाशा दौड़ पड़ा फांसी-गधेरे की तरफ।

मैं पागलो की तरह बदहवास सा भाग रहा था। लेक ब्रिज, तल्ली-ताल, नया बाजार कब पार हुए, मुझे याद नहीं। कब मैंने कमरे का ताला खोला, कमरे में घुसा और कटे पेड़ के तने की तरह कब बिस्तर पर गिर

पड़ा, मुझे होश नहीं।

क्षण भर मे मुझसे यह क्या हो रहा, मेरी समझ में न आ पा रहा था।

मैं सोच रहा था, मल्लीताल रिक्शा स्टैंड के चौराहे तक उन्हें छोड़कर माल रोड से वापस लौट आऊंगा। श्रीमती दत्ता के व्यवहार से मैं क्षुब्ध अवश्य था, किन्तु इस हद तक बात पहुंच जायेगी, इसका भान नहीं था।

पता नहीं मेरे व्यक्तित्व का यह कौन-सा अव्यक्त रूप था, जीवन मे जो आज सहसा उभर पड़ा था इस तरह से। किसी महिला के साथ ऐसे व्यवहार की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

फिर यह क्या हो पड़ा आज !

मेरा मैं हांफ रहा था। मेरा सारा शरीर जल रहा था। मुझे लग रहा था—टीन की यह कत्थई छत, सफेद दीवारें, सामने टंगा रंगीन कैलेण्डर—उसमे लहरें लेता नीला सागर, सीमेंट का ठंडा फर्श मेज-कुर्सियां, सब मेरे चारों ओर घूम रहे हैं—तेज़ी से घूमते चले जा रहे हैं। तभी एकाएक हथेलियों से आखें ढक ली मैंने और चीख पड़ा ज़ोर से।

मुझे जब होश आया, तब शायद सवेरा हो चुका था। चौकीदार मेरे सिरहाने बैठा तपते माथे को सहला रहा था। छात्रावास के एक-दो छात्र भी उपस्थित थे।

'अब कैसी है तबीयत ?" शायद 'जीवाणु' ने पूछा था। कद-काठी में बहुत छोटा—बौना होने के कारण जीवानन्द रेणु को सब लोग इसी नाम से हंसी मे सम्बोधित किया करते थे।

"ठीक है।'

"क्या हो गया था ?'

"सर्दी-जैसी लग गयी थी !" मेरे उत्तर देने से पहले चौकीदार चट बोल पड़ा था।

'कल रात अंधेरे मे दौड क्यों रहे थे बेतहाशा ?" जीवाणु पूछता-पूछता पता नहीं क्यों एकाएक चुप हो गया था।

5

सुबह से शाम तक सारा दिन बिस्तर पर पड़ा रहा। अपने को बहुत टूटा-टूटा अनुभव कर रहा था मैं। ट्यूशन पढ़ाने के लिए जाने का अब प्रश्न नहीं रह गया था, इसलिए पढ़ाई का सिलसिला जारी रखना भी असभव सा लग रहा था एक तरह से। परन्तु इससे भी बड़ी एक और चिंता सता रही थी कि अब तुम्हें नहीं मिल सकूंगा !

यह कल्पना अन्त में असह्य हो उठी तो मैं कराह उठा। आज पहली बार मुझे तुम्हारे प्रति इतने गहरे लगाव का अहसास हुआ।

सामने खुली खिड़की की तरफ मेरे पांव थे। इसलिए बाहर का दृश्य साफ़ दिखलायी दे रहा था। बाज का अधझुका वृक्ष, उस पर चादमारी वाले पहाड़ की आकाश से लगी कटी फटी सीमा रेखा और उसके बाद धुंधले धुंधले नीले पहाड़ों की एक दूसरे से जुड़ी अनगिनत परतें—जो धीरे धीरे शून्य में विलीन हो गयी थी।

शायद सांझ घिर रही थी अब। चारों ओर का धुंधलापन गहरा रहा था। शनै शनै गहरा अंधकार छा गया, जैसे किसी ने आसमान पर काला कम्बल तान दिया हो। दिन का दरवाजा आधा भिड़ा था। खुली खिड़की से चुभती हुई हवा के झोंके आ रहे थे। कमरे में घुप्प अंधेरा था। किन्तु मुझ मे न स्विच तक जाने की शक्ति थी और न इतनी ही सामर्थ्य कि खिड़की के पल्लू को ढक सकूं, ताकि ठंडी हवा से निजात मिल सके।

अंधकार मे विवश भाव से आंखें फाड़े मैं कुछ खोज रहा था, जैसे गदले पानी मे कुछ टटोलने का असफल प्रयत्न कर रहा होऊं।

तभी सीमेन्ट की सीढ़ियों पर जूतों की आहट हुई। दरवाजे के पास के चौकीदार का भैंसा स्वर !

मैंने सहसा करवट बदली। देखा—

अंधियारे मे श्रीमती दत्ता खड़ी हैं। जलती लालटेन लिए चौकीदार।

'अंधेरे मे क्यों लेटे हैं ?" उन्होने जैसे स्वयं से पूछा हो।

इतने में चौकीदार तेजी से भीतर की ओर लपका और उसने झट-से स्विच ऑन कर दिया।

फिर चुपके से वह उठी और चली गयी। परन्तु मैं अब तक शून्य में झूल रहा था। उनकी यह बात मुझे उस समय अप्रासगिक लगी थी। किन्तु जब अथ कुछ-कुछ समझ म आया, तब तक शायद बहुत देर हो चुकी थी।

रात को ही कम्पाउण्डर नेगी आया था। टेम्प्रेचर लेकर कुछ दवाए दे गया था। सुबह वह फिर आया तो तब तक मैं अपने मे बहुत परिवतन अनुभव कर रहा था। कल के बराबर कमजोरी भी अब नहीं थी। श्रीमती दत्ता ने खिचडी भिजवाई थी, कुछ ताजे फल भी।

कॉलेज खुल गये थे अब। छात्रावास मे फिर चहल-पहल शुरू हो गयी थी।

आज शाम मुझे तुम्हें पढ़ाने के लिए जाना था, किन्तु उस ओर पांव बढ ही नही पा रहे थे। दिन भर दुविधा की स्थिति रही। जहा तुम्हें देखने की ललक थी, वहां श्रीमती दत्ता से सामना होने में एक प्रकार की असुविधा भी।

सध्या के समय मेरे पाव अपने-आप 'ब्लू काटेज' की ओर मुडने लगे। कुछ समय पश्चात् मैंन अपने को तुम्हारे कमरे म खडा पाया।

दरवाजे के पास बधा झबरैला कुत्ता भी आज नहीं भूका था शायद। डॉक्टर दत्ता भी नही टकराये थ, न श्रीमती दत्ता ही।

तुम उसी तरह बेंत को कुर्सी पर बैठी थीं—प्रतीक्षारत। आज शायद मुझे कुछ अधिक देर हो गयी थी!

मुझे लग रहा था, जसे वर्षों बाद आज तुम्हें देख रहा हू। जाडो के ये छोटे छोटे चार छह दिन चार साल से भी लम्बे हो गये थे न! तुम्हारे चेहरे की उदासी कुछ और बढ़ गयी थी शायद। तुम्हारे रेशमी बाल उसी तरह लहरा रहे थे, वैसी ही निरीह, निश्छल आखें, वैसा ही पूर्णिमा के चाद सा दूधिया चेहरा! सब कुछ वसा ही होने के बावजूद मुझे सब कुछ बदला-बदला-सा क्यो लग रहा था?

तुमने गहरे नीले रग का शाल ओढ़ रखा था न! उसके बीच मे से झांकती तुम्हारी सफेद अगुलिया काफी पर टिकी थी।

जब मैं पढ़ा रहा था, तुम्हारा ध्यान पढ़ने की ओर नहीं दिख रहा था। टकटकी बांधे तुम मेरी तरफ़ देख रही थी—निरन्तर देखती चली जा रही थी। उन आंखों म कितना अपनापन था, कितना परायापन ! कितने उलाहने, कितने अनकहे प्रश्न और कितना समाधान !

मैंने देखकर भी सब कुछ अनदेखा कर दिया था। उसी एकाग्रभाव से मैं पढ़ाता रहा—पढ़ाता चला गया निरन्तर। इस बीच जो कुछ घटित हो चुका था, उसने मुझे कहीं बहुत गम्भीर बना दिया था। मैंने निश्चय कर लिया था कि अब केवल काम से काम रखूंगा। भगवान से यही प्रार्थना रास्ते भर करता आ रहा था कि श्रीमती दत्ता न टकरा पड़ें कहीं !

"कुछ कमज़ोर से लग रहे हैं—बीमार पड़े थे क्या ?' तुमने इतने धीमे स्वर म कहा कि साफ़ साफ़ कुछ सुनाई नही पडा। तुम्हारे हिलते होठों से मैंने अनुमान लगाया था कि शायद ऐसा ही कुछ तुम्हारे कहने का आशय होगा।

किन्तु फिर भी मैं उसी गति स पढ़ाता रहा। मैंने जैसे सुना ही न हो कुछ !

अब मैंने अंग्रेजी के बाद मैथ्स को पुस्तक उठा ली थी। शायद लॉगरिथ्म का कोई सवाल था। मैं जब समझा रहा था, तुम्हारी निगाहें पुस्तक के अकों की अपेक्षा मेरी आकृति पर उभरती मिटती रेखाओं का गणित समझने का विफल प्रयास कर रही थीं।

धीरे धीरे तुम्हारे चेहरे का रग उडने सा लगा। अब एकदम बुझा-बुझा-सा लग रहा था सब—करुण, उदास !

पता नही क्या हुआ तुम्हें—तुमने सहसा जोर से पलकें मीचकर कॉपी पर माथा टिका दिया था।

मैं उसी तरह पढाता चला जा रहा था—अब भी।

कुछ देर बाद तुमने माथा ऊपर उठाया तो पता नहीं किन निगाहों से मेरी ओर देखा कि मेरा दिल काप काप आया। तुम्हारी पलकों के कोर भीगे थे। आखो पर लाल लाल झाइया।

परन्तु फिर भी मेरा पढ़ाना रुका नही, उसी गति से चलता रहा।

कापी के कोने पर तुम पेंसिल से बार-बार कुछ रेखाए खींचकर

अकारण काटती चली जा रही थी। ज़ोर-ज़ोर से नुकीली पेंसिल घिसने से कागज काला हो गया था। बीच-बीच मे गहरी रेखाओ की जगह कागज बुरी तरह फट भी आया था शायद।

जाने के लिए जब मैं उठने लगा तो तुमने एक बार घूरकर फिर देखा था मेरी ओर।

फिर झटके से कापी का किनारा यो ही लापरवाही से फाड़ा और चुपके से उसे मेरी ओर सरका दिया था।

अपनी किताब के साथ साथ उसे भी उठाकर मैं जल्दी से बाहर निकल आया था।

होस्टल मे आकर देखा। टेढ़े-मेढ़े कापते अक्षरो मे तुमने लिखा था—मैंने एक पल के लिए भी कभी आपको याद नही किया। ठीक ग्यारह बजे भी नही। मम्मी कहती हैं, यही बरेली मे रहकर पढ़ो। अब वही चली जाऊगी ।

धार की तरह कुछ चीरता चला गया था।

पता नही कितनी बार मैंने तुम्हारे इन टेढ़े-मेढ़े कटे फटे अक्षरो को पढ़ा था। तुम्हारा अन्तद्वन्द्व, तुम्हारी मानसिक व्यथा का अहसास कम नहीं था मुझे, पर तब भी मैं पत्थर की तरह चुप रहा। मेरा मन सब जगह से उखड़-उखड़ सा गया था। पता नहीं वह कौन सी विवशता थी कि मैं अब तक तुम्हें पढ़ाने जा रहा था।

दो-तीन दिन तक ऐसा ही कुछ क्रम चला।

एक दिन श्रीमती दत्ता शायद क्लब गयी थीं। डॉक्टर दत्ता किसी मरीज को देखने—अयारपाटा। मैंने बाता ही-बातो म श्रीमती दत्ता से सम्बंधित पहल दिन की कुछ बातें बतलाईं तो तुम सहसा हस पड़ी थी—हसती रही थी दर तक।

6

घर की गिरती स्थिति, दिन प्रतिदिन तुम्हारे प्रति बढते हुए लगाव, और श्रीमती दत्ता के उन्माद ने कुल मिलाकर अजीब सा वीतरागी बना दिया मुझे। मेरे कारण वसन्त आगे नहीं पढ़ पा रहा था। अर्थाभाव के कारण अम्मा का इलाज भली भांति नही चल पा रहा था। मेरे अन्तर मे एक प्रकार का अपराध-बोध पनप रहा था। इन अन्तहीन संघर्षों के बीच जी पाना कठिन लग रहा था। क्या कुछ लोग यातना सहने के लिए ही पैदा होते हैं और यातना सहते सहते ही अन्त मे एक दिन नही, नहीं। मैं कराह उठता।

मुझे लग रहा था, कही मैं भीतर सिमटता चला जा रहा हू—घोंघे की तरह।

सुबह कॉलिज चला जाता। वहा से आते ही अपने कमरे मे बन्द हो जाता। न किसी से बोलना चालना, न किसी से गप शप। कोस की किताबो मे डूबा रहता, वहा से थक जाता जो धार्मिक ग्रंथो मे भटकने लगता।

'गुरु अध्यात्म ज़ोर मार रहा है क्या ?" रात को पढ़ते समय एक दिन सुहास ने कहा।

'नही तो ।" यो ही हस दिया था मैं।

"आप भी परम हैं पंडित !" उसने तनिक सोचते हुए कहा, "यार, दुनिया तुम पर जान छिडक रही है और तुम हो कि !" वह स्वय ही हसने लगा था, 'सुना तुमने, कल्पना आज क्लास मे क्या कह रही थी ?'

मैंने उसकी ओर देखा—

'तुम्हारी दाढी पर मोहित है विराग शर्मा ! तुम्हारी तरह वह भी खादी धारण करने लगी है। मीरा बनी फिर रही है, बावरी सी। और तुम साले गिरधर गोपाल हो कि "

उसने अजीब-सा ऐसा लम्बूतरा मुह बनाया कि मैं अपनी हसी रोक न पाया।

"आज सारा दिन तुम्हे बनाने के लिए कोई नही मिला ?" मैंने कहा तो सुहास और भी जोर से हसने लगा, "जरूर तुम कोई जादू-टोना जानते हो यार, ब्राह्मण-सुत। कल शाम मिसेज दत्ता मिली थीं, गेरुआ वस्त्र धारण किए। गले मे रुद्राक्ष की जसी कोई माला थी। अपने कमरे मे अकेली बठी जाप कर रही थी—विराग शर्मा! विराग शर्मा!!"

मैंने एक धौल उसे जमा दी तो उसकी हसी का स्वर और अधिक मुखर हो उठा ' जीवाणु कह रहा था कि तुम पाषाण-देवी तक तो मैया को घुमा लाए हो हा, दूर से जीवाणु को आता देखकर सिर पर पाव रखकर भागे क्यो थे साले, दत्ता किसी दिन जहर खा लेगा। एक घर बरबाद हो जाएगा !"

"च्च! च्च!" मैंने जीभ काट ली, "भगवान के लिए ऐसा न कहो, नहीं तो पाप चढ़ जाएगा मुझ पर। वे मुझसे उम्र मे बडी हैं। उनकी मैं बडी इज्जत करता हू !"

"तो हम कहा कह रहे हैं कि तुम उनकी बडी बेइज्जती करते हो या उम्र मे वे तुमसे छोटी हैं। दुनिया म ऐसे कितने महापुरुष पैदा हुए हैं, जिनकी पत्नियां उनसे उम्र म बडी थी और फिर प्रेमिकाए तो !" उसने शरारत स आखें मटकाकर कहा और पावो मे बाथरूम स्लीपर डालकर बाहर निकल गया।

दरवाजा खुलते ही ठडी हवा का झोका आया। रात की रानी महक रही थी बाहर।

जो मैं नही चाहता था, जिसकी मुझे दहशत थी—वही हो गया न आज ! कल तक जीवाणु यह बात सारे कालेज मे फैला देगा—श्रीमती दत्ता को मैं आधी रात के समय ठडी सडक पर घुमा रहा था ! और सामने से उसे आता देखकर भाग खडा हुआ

टीन के दरवाजे पर तभी फिर आहट हुई।

सुहास की अगुलियो पर सुलगती सिगरेट अटक रही थी। उसने जोर स कश खीचा कि एक चिनगारी सी अधेरे मे सुलती। वह चुपचाप मेरी बगल मे बैठ गया, "गुरु, बुरा मान गए ?"

"नहीं नहीं।" सामने खुली पुस्तक मैं पढ़ता रहा।

उसने स्लीपर उतारकर पाव दूर तक फैलाए। तनिक गम्भीर मुद्रा बनाकर बोला, "यही तो उमर है खलन-खान की! और इसी में तुम पर वैराग्य सवार हो रहा है। यार मैं उनके साथ कौसानी गया था न! पर वहां पहुंचने से पहले ही कुछ ऐसा हो पड़ा कि जल्दी उसी दिन मुक्तेश्वर लौट आया। पर, देखो न अपना लक! भवाली में 'समीसा' मिल गयी थी, वही श्यामा साहू—दाडिम-कली! लगड़ के रेस्तरां में आठ अंडों का आमलेट खिला दिया उसे एक साथ। अपनी तो एक ही फिलासफी है, गुरु"

सुहास की ये फूहड़ बातें मुझे तनिक भी अच्छी नहीं लग रही थीं। उसके प्रति एक तरह से वितृष्णा का भाव उपज रहा था। मानव और पशु में क्या कोई भेद नहीं? सारे सम्बन्धों का निष्कर्ष क्या एक ही बिन्दु पर समाप्त होता है? वासना के कीचड़ में कितना ही धंसो, अन्त में हाथ क्या आता है—क्रोध से काम, काम से विनाश।

"गुरु, चुप क्यों हो गए?" सुहास ने कुरेदा।

"कुछ नहीं। पता नहीं इस बार एक्जाम में क्या होगा?"

"छोड़ भी यार!" उसने तनिक झिड़ककर कहा, "दिन रात—एक्जाम! एक्जाम! अच्छा बता ट्यूशन कैसा चल रहा है?"

"ठीक है।"

"मजा आ रहा है?"

मैं क्या उत्तर देता इस अश्लील प्रश्न का! यों ही हंस दिया।

"गुरु, अपनी तो फिलासफी कुछ दूसरी है, भले बुरे का भेद अपनी मंद बुद्धि से परे है। सहज भाव में जो हो जाए वह सब अच्छा है—अच्छा ही अच्छा!" वह उठ खड़ा हुआ। डेस्क के ऊपर पीतल का लोटा रखा था—पानी से भरा। यों ही ऊपर से नल की जैसी धार बनाकर पीने लगा—गट गट! तभी पीते पीते पता नहीं क्या हुआ, उसे खांसी आयी और पानी मुंह पर ही नहीं नीचे सीमेंट के फर्श पर भी बिखर गया था दूर तक।

"गाली तो नहीं दे रहे गुरु!" तौलिए से मुंह पोंछकर उसने कहा और कूदकर अपने बिस्तर पर बैठ गया।

पैंट की पिछली जेब से बटुआ सा कुछ निकालकर वह देर तक निनिमेष देखता रहा। फिर मेरी ओर बढ़ाता हुआ बोला देखा तो, गुरु। किसी हीरोइन से कम है ?"

उसने पासपोर्ट साइज का एक फोटो मेरी ओर बढ़ाया।

यह तो तुम्हारा ही चित्र था, अनुमेहा ! तुम्हारे सुनहरे बाल हवा में उड़ रहे थे। अधमुदी पलकों में अजीब सा भाव [illegible] मन मुस्कराती मुद्रा।

पीछे लाल स्याही से लिखा था— [illegible] 'तुम्हारे लिए [illegible] —मेह[illegible]

मैं जैसे धरती पर औंधे मुह गिर [illegible]
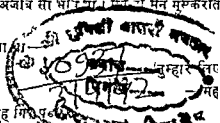
मुझे लगा, चारपाई हिल रहा है। [illegible] गिरने वाली है। [illegible] टेढ़ा हो गया है। अधखुली खिड़की के रास्ते कुहरे की तरह अंधेरा भीतर की तरफ बढ़ रहा है। धीरे-धीरे सारे कमरे में छा रहा है। हवा में झूलता बल्ब और धुंधला हो आया है—ग्रहण लगे चांद जैसा।

'लो !" तुम्हारा फोटो मैंने सुहास के सामने बढ़ा दिया।

सुहास हंस पड़ा, 'यह आपका है !"

' मेरा ?"

' हां हां, आज कालेज से लौटा तो डाक से आया एक लिफाफा नीचे फ़र्श पर पड़ा था। मैंने अपना समझकर गलती से खोला तो मात्र यह फ़ोटो निकला। लिफाफा उलट पलटकर देखा—आपका नाम लिखा था—तिरछे अक्षरों में।"

' मेरा कैसे हो सकता है ?" मैं अचरज से बुदबुदाया।

सुहास चुप था।

मुझे यह समझते समय न लगा कि हो सकता है सुहास सरासर झूठ बोल रहा हो। मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए ही या यह भी असंभव नहीं कि तुमने ही भेज दिया हो !

दूसरे दिन जब शाम को पढ़ाने पहुंचा तो मैंने जाते ही गुस्से से पूछा "तुमने मुझे फोटो क्यों भेजा ?"

"कौन-सा फ़ोटो ?"

"कौन सा ! जसे तुम्हे पता नहीं ?' मैंने झिड़ककर कहा तो तुम हस पड़ी थी।

"सच्ची, मैंने नहा भेजा ! मैं क्या भेजूगी !" बडी मासूमियत से तुमने देखा था।

"फिर यह कहां से आया ?' मैंने जेब मे से तसवीर निकाली।

कुछ देर तुम चुप रही—दांतो के नीचे निचला अधर जोर से दबाए। फिर तुमने झटके से मेरी ओर देखा—"मैंने नहीं भेजा। हां, यदि भेज भी देती तो क्या कोई गुनाह हो जाता !"

"क्या नही हो जाता गुनाह ? तुम कौन हो भेजने वाली ?" मेरे मुह से गुस्से से निकल पडा।

पता नहीं तुम पर क्या प्रतिक्रिया हुई कि तुमने उसी तरह मेरी ओर देखा, 'मैं कह रही हू मैंने नही भेजा, पर आप ज़िद करेंगे तो अब रोज भेजूगी ! रोज भेजूगी ! रोज भेजूगी !"

ग्रामोफ़ोन की सुई जैसे एक ही बिंदु पर अटक जाती है, और एक ही स्वर बार-बार सुनाई देता है, उसी तरह तुम कहती चली जा रही थी। तुम्हारा शान्त चेहरा कितना सिंदूरी हो गया था उस पल ! आखें डबडबा रही थी—सचमुच तुम रो रही थी, मेहा !

7

झील के किनारे किनारे माल रोड से लगी कच्ची सडक पर मैं अकेला चल रहा था। तुम्हारा आसू भरा चेहरा अब तक मेरी पलको पर तैर रहा था। तुमने अगर अपना चित्र भेज भी दिया तो क्या गुनाह हो गया था ? कभी कभी मैं अकारण इतना निमम क्यो हो जाता हू। सारी सवेदनाए, सारी सहानुभूति, सारी आत्मीयता कहा चली जाती है ? अपने को इतना बदला बदला क्यो महसूस करता हू ? तुमने न भेजा हो—क्या यह नही हो सकता ! सुहास तुम्हारे घर से यो ही उठाकर ले आया हो !

क्या यह नहीं हो सकता कि तुमने सुहास को ही दिया हो, अपने हस्ताक्षर करके ! नहीं तो उसके पास म कहां स आ टपकता !

मैं चुपचाप चल रहा था, चलता जा रहा था ।

नगरपालिका का बन्द पुस्तकालय कितना वीरान-सा लग रहा था ! आधा तालाब म, तट स टकराती लहरो के ऊपर—आधा जमीन पर, पत्थर क पायो पर खड़ा !

मस म खाना खाकर, कमर मे आया तो ताला बन्द था । सुहास अब तक नही लौटा था । यो भी वह रात देर से लौटन का आदी था ।

जूते, कपडे सहित ऐस ही बिस्तर पर गिर पडा था निढाल । दिन भर की थकान का अहसास अब हो रहा था, मजिल पर पहुचकर । दर तक छत को ओर अपलक देखता रहा था—पता नही क्या-क्या सोचता हुआ !

तभी सहसा मैंन तुम्हारा चित्र निकाला और न जान किस आवश म उसके टुकड़े टुकड़े कर पायों के पास नीचे फेंक दिया था ।

सुबह उठते ही टुकड़ टटोलने लगा तो वहां एक भी नहीं मिला । हां, चारपाई के बाए पाये के पास तुम्हारा वही चित्र औंधा पडा था, ठीक वही चित्र जिसके पीछे तुमने 'मेहा' लिखा था !

यह क्या हो रहा है ?

कल रात जो टुकड फेंक थे, वे कहा हैं ? यह नया फ़ोटो अब कहां से आ गया ? क्या मैंने उस फाडा ही नही था !

सुहास रात को पता नहीं कब लौटा था ! अब तक पाव पसारे निद्वन्द्व लेटा था ।

कहा उसी ने न रख दी हो ! पर उसके पास कहां से आएगी नयी तसवीर !

दूसरे दिन मैंन तुम्ह यह सब बतलाया तो तुम हसने लगी थी, "आपका भ्रम होगा । कहीं आप मेरी तसवीर फाड सकते हैं ? गुस्से म यो ही आपने फेंक दी होगी कितन प्यार से तो भेजी थी !"

मुझे याद आया, सुबह कालेज जाते समय सुहास स जिक्र किया तो वह भी ठीक तुम्हारी तरह हसने लगा था, "फ़ोटो के फटे टुकडे कभी-कभी

अपने आप जुड जाते हैं, गुरु ! मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था एक बार। प्रेम प्रेम का यह चक्कर ही ऐसा होता है। अच्छे अच्छे भ्रमित हो जाते हैं।' कुछ सोचते हुए उसने अपना खुला हुआ पजा ऊपर हवा मे लहराया, साप के फन की तरह, "गुरु, बतलाओ, कितनी अगुलियां हैं ?'

मैंने गिनी ' छह है !"

वह ठहाका लगाकर हस पडा था, "बस्स बस्स, यही चक्कर है। पाच के बदले जब छह नजर आए तब समझ लीजिए आदमी काम से गया !'

तुम्हे याद होगा, उसके दाए हाथ की सबसे छोटी अगुली की बगल मे एक और नन्ही सी अगुली थी—बाहर की तरफ छितरी हुई सी। उसे ही जोडकर मैंने छह कहा था।

हमारे साथ साथ सुहास भी चल रहा था। मेरे गले म हाथ डालता हुआ वह फिर बोला था गुरु, आप ठीक कह रहे हैं। मैं भी एसे ही चक्कर मे फस पडा था बहुत पहले। तब किसी ने आगन म बधी अपनी बकरी की ओर इगित कर पूछा था—'कितनी टांगें हैं इसकी ?'

मैंने बार बार जोडकर, सोच समझकर कहा था—'तीन'। तब से अब तक बकरी की तीन ही टांगें नजर आ रही हैं मुझे।"

हम हस पडे थ एक साथ

आप क्या सचमुच मुझसे नाराज हैं ?" तुमने सन्नाटा तोडते हुए कहा था।

' नही-नही ! मुझे यह सब अच्छा नही लगता। तुम समझती क्यो नही हर आदमी की अपनी एक इज्जत होती है ।" तल्खी के साथ मैंने तुम्हारी ओर देखा था।

"बातें करने से या साथ-साथ चलने फिरने से क्या इज्जत कम हो जाती है ?" तुमने कितनी मासूमियत से पूछा था—बडे भोले भाव से। तुम्हारी निर्विकार निरीह आकृति की ओर मैं देखता रहा था देर तक।

"आप तो इतना पढते हैं ! आन्टी कहती हैं दुनिया-जहान की, ज्ञान की सारी बातें जानते हैं। फिर कभी-कभी आप ऐसा क्यो करते हैं ? सच, मैं बहुत परेशान हो जाती हू ।

मैं जस कही गहरे मे डूब गया था, "यही तो कहता हू कि इन सारी

सतही बातो मे क्या रखा है ! इसके ऊपर भी एक धरातल होता है—तुम नही समझ सकती उसे ।"

तुम शायद सचमुच नही समझ पायी थी, उसी तरह मेरा मुह देर तक ताकती रही थी। तुम्हारा वही निरीह चेहरा अब कितना निरीह हो आया था—कुछ-कुछ दयनीय सा !

"कभी-कभी तुम्हारी इच्छा साथ बैठकर खूब बातें करने की, घूमने-फिरने की होती है न !" मैंने जैसे अपने से पूछा हो—बडी उखडी उखडी धीमी आवाज़ मे ।

तुम उसी तरह देखती रही थी—खोयी खोयी सी ।

'तुमने एक बार कहा था—आप सामने बैठे हो मैं आपकी तरफ देखती रहू, देखती रहू—इसके अलावा मुझे और कुछ नही चाहिए ।

' तुमने एक बार कहा था—रात को खिडकी खोलकर अधकार म डूबे देवदार के वृक्षा की ओर पता नही क्यो मैं घटो बैठी ताकती रहती हू । मुझे न जाने क्या हो गया है—नीद नही आती । भूख नही लगती । अकारण मन छटपटाता रहता है । मुझसे पढा नही जाता अब ।"

अनजाने मे मुझसे जैसे कोई छिपा हुआ घाव कुरेदा गया हो !

तुम्हारी उदास आखो म मोतियो का झालर उलझ आया था । अजीब-सा मुह बनाकर तुमने मेरी ओर देखा था, 'नही-नही, मुझे कुछ नही होता —कुछ नही । मैंने झूठ बोला था—आप चले जाइये, मुझे आपसे बातें नही करनी हैं !"

तुम्हारे शान्त' शब्दों के पीछे छिपा धधकता ज्वालामुखी देर तक मुझे झुलसाता रहा था ।

तुम्हारी मुट्ठी में कागज की कुछ बधी चिन्दियां पसीने से गीली हो आयी थी ।

'यह क्या है ?" मुझे लगा, शायद तुमने मुझे कोई पत्र लिखकर फाड डाला हो ।

'कुछ नही ।' तुमने हसने की असफल चेष्टा की थी ।

मुट्ठी खोलकर मैंने देखा तो पतले कागज के हरे हरे टुकडे थे—ऊपर 'अशोक टाकीज' लिखा था ।

' कहां से आये ?"

"आण्टी ने कल दिये थ—देखने के लिए ।"

"फिर गयी क्या नहीं ?"

"मन नहीं हुआ।"

"कितने थे ?"

"दो।" तुमने थूक गटककर कहा, "उन्होंने अपने लिए कल मगाई थीं, पर फिर गयी नहीं, इसलिए मुझे दे दी थी ।"

कहते कहते तुम चुप हो गयी थी।

'आपको पिक्चर अच्छी नहीं लगती ?" सूनेपन को तोड़ती तुम्हारी खोयी खोयी आवाज थी।

लगती है।"

'कभी देखते हैं ?'

"कभी-कभी।"

"मुझे दिखलायेंगे ?"

"हां।"

कब ?"

' अगले जन्म में।"

सुनते ही तुम चुप हो गयी थी, इसके बाद तुमने फिर कुछ भी नहीं पूछा था।

बर्फ की एक मोटी चादर चारों तरफ बिछ गयी थी। "सुनो!" मुझे सहसा कुछ याद आया था। तुम्हारी ओर मैंने परखती निगाहों से देखा था, "उस दिन पिताजी आये थे गांव से। मैंने शायद तुम्हें बतलाया नहीं!"

मेज पर कुहनियां टिकाये तुम बैठी थी। दोनों हाथों की अंगुलियां परस्पर जोड़कर तुमने बित्ते भर का पुल बना लिया था, जिस पर तुम्हारी ठोडी टिकी थी। पलकें ऊपर उठाकर तुमने ख्वा यादे।

पता है क्या कहते थे ?' मैंने जिज्ञासा से कहा।

' "

"मुझे बुलाने आये थे ।"

"क्यों ?"

"कहते थे—तुम्हारी शादी तय कर दी है—दस गते की। तुम चलो। तुम्हारी अम्मा मरने से पहले बहू का मुंह देखना चाहती हैं ।"

"तो आपने क्या कहा ?" सिर से पांवों तक तुम्हारा सारा शरीर सचेत हो आया था। अपने इस प्रश्न का उत्तर सुनने के लिए तुम कितनी आतुर हो उठी थी ! गर्दन आगे की ओर बढ़ाकर मेरे कितने करीब आ गयी थी !

"तुम ही बतलाओ मैंने क्या कहा होगा ?"

' हमें क्या पता ?"

"फिर भी ।" कुरेदा तो तुम बोल पड़ी थी, "आप तो श्रवणकुमार हैं ।" कहते-कहते मुसकान की हल्की रेखा तुम्हारे अधरों तक आती-आती तिरोहित हो गयी थी, "आपने वही कहा होगा जो आपको कहना चाहिए था ।"

"क्या ?"

"हमसे क्यों कहलवाते हैं ? हमें नहीं मालूम !" तुमने किंचित झुंझलाकर कहा था।

मैं चुप हो गया था।

देर तक फिर तुमने भी कुछ नहीं पूछा था।

"एक बात बतलाइये, आपने उसे देखा है कभी ?" कहीं दूर से आता हुआ जैसा तुम्हारा स्वर था शायद।

' हां—क्यों ?"

"कैसी है ?"

"बहुत अच्छी।"

"देखने में "

"देखने में भी। लहराते रेशमी बाल, शरद के धुले आकाश-जैसी उजली नीली-नीली आंखें, दूधिया चेहरा, होंठ ठीक तुम्हारी तरह, कद भी लगभग इतना ही ।"

"तो ।" अपने सूखे अधरों पर तुमने जीभ फिराई थी।

"तो क्या ?"

"आपन क्या कहा ?"

हस पडा मैं, 'यही कि तय कर लीजिये। हम आ जायेंगे। तुम चलोगी ?"

तुम्हारा चेहरा कैसा-कैसा हो आया था! खुली किताब क ऊपर सिर गडा लिया था तुमने।

देर बाद ऊपर उठाया तो मैं सब कुछ समझ चुका था, अरे, तुम तो सच मान गयी! मैंने यो ही कहा था—झूठ-मूठ मे ?"

तुम चुप थी।

"मैंने मना कर दिया था। सच्ची !'

'क्यों ?

"बस्स, ऐसे ही।" मैंन अपने दाए हाथ की खुली हथेली तुम्हारी ओर बढायी थी 'देखो न इसम उम्र की रेखा कहा है ? लगता है ऊपर वाल न खीची ही नही!" मैंने फीकी हसी हसन का प्रयास किया था।

विस्फारित नत्रो से तुमने खुली हथेली की ओर नही मेरे चेहरे की ओर ताका था— अविश्वास से।

मैंने एक गहरी सास ली 'हाथ की रेखा की बात तो यो ही कर रहा था वैसे भी मरी जि दगी अधिक लम्बी नही, मेहा! मैं झूठ नही बोल रहा। फिर फिर अभी ता पढ हो रहा हू पढाई पूरी भी कर चुका होता तब भी शाय विवाह नही करता। घर-गृहस्थी के जगल म मन रम नही पायगा मैं जानता हू। जिस वरागी बनना है वह !"

यह सब सुनना शायद तुम्ह अच्छा नहीं लग रहा। तुम्हारी आकृति मे कितने ही रग एक साथ उतर-उभर रहे थे।

'मुझे लगता है तुम हर प्रश्न को अब गम्भीरता से लेने लगी हो। तुम्हारी निरन्तर बढ़ती भावुकता से कभी कभी मैं बहुत परेशान हो जाता हू। जिससे प्रेम हो उसी स विवाह भी किया जाए, क्या यह जरूरी है ? एक धुधली-सी लौ क सहारे आदमी अपनी सारी अधेरी जि दगी गुजार सकता है—बिना किसी अभाव को महसूस किए।" मैं कह ही रहा था कि तुम एकाएक बिफर पडी थी, पुस्तको मे आज तक जो-जो पढ़ा, सारा

"जी, मुझे कुछ जरूरी काम है। जाना सम्भव न हो पायेगा।"

'खैर।' इतना कहकर दस रुपये का एक नोट उन्होंने मेरी ओर बढ़ाया, "चाय तो नहीं पी होगी आपने ?" चलते चलते उन्होंने पूछा था।

उनका वाक्य अभी पूरा भी नहीं हो पाया था कि नन्हा-सा नौकर प्याला लेकर कमरे में आ गया।

तभी दरवाजे पर पर्दा सरकने की सी आहट हुई और मेज पर रखी किताब तुम जल्दी समेटने लगी थी।

आज फिर वैसा ही रूप था तुम्हारा।

जार्जेट की दुग्ध धवल साड़ी—बगुले के पंख जैसी, वैसा ही हिम-श्वेत मखमली ब्लाउज, सुनहरे बालों पर इठलाता सफ़ेद कमल का सा कोई फूल—बर्फ का तराशा हुआ टुकड़ा जैसा, पावों मे सफ़ेद चप्पलें।

हिम-बाला का सा तुम्हारा यह उज्ज्वल आकार कितना निर्मल, निष्कलंक लग रहा था! तुम आज फिर एक बार इस धरती की जैसी नहीं लग रही थी, मेहा!

बाहर निकले तो कितना खुला-खुला-सा लगा था।

'क्रास्थवेट हॉस्पिटल' के नीचे एकदम ढलान था। 'धोड़ा स्टैण्ड' में आज उतनी भीड़ नहीं दीख रही थी। ज्यो ज्यो जाड़ा बढ़ रहा था, सैलानियो की संख्या कम होती चली जा रही थी। अधिकांश दूकानें बन्द हो गयी थी। अब कुछ ही दिनो मे सारे सिनेमा हॉल भी बन्द हो जायेंगे। 'नॉवल्टी' को बन्द हुए शायद एक हफ्ता बीत गया था।

'मेहा आपकी बड़ी तारीफ करती है।" तुम्हारी सोनल जिज्जी ने सड़क पर आते ही कहा, "आपकी मेहनत से इसका डिवीजन बन जायेगा। पिछले होम-एक्जाम में मार्क्स बहुत अच्छे लायी है ।"

मैं प्रत्युत्तर मे क्या कहता! हां, मैंने देखा, कनखियों से झांककर तुम मुसकरा रही थी।

"प्लेन्स के रहने वाले हैं न ?' उन्होंने पूछा था।

"जी नहीं, यहीं पहाड़ के ।'

'कहां ?"

'जिम कार्बेट की पुस्तक 'मैन ईटर ऑफ चम्पावत' पढ़ी होगी न ! अभी कुछ ही साल पहले इस नाम से हॉलीवुड की एक फिल्म भी यहां आयी थी। उसी के पास ।"

तुम्हारी सोनल जिज्जी मुसकरा रही थीं, "पर आपको देखकर लगता नहीं कि आप यहां के रहने वाले हैं।"

"क्यों ?"

"मैन-ईटर के प्रदेश का आदमी तो बड़ा खतरनाक होना चाहिए, पर आप इतने भले हैं कि ।"

हम सब हंस पड़े थे—उन्मुक्त हंसी में।

"हमारी आण्टी के 'चिड़ियाघर' के लिए एक 'मैन-ईटर' पकड़कर ला दीजिये न !" तुमने शरारत में हंसते हुए कहा था, "एक शेर की कमी थी, वह भी पूरी हो जायेगी—सांप, लंगूर तो हैं ही।"

तुम्हारी जिज्जी हंसने लगी थीं।

उनकी हंसी ठीक बच्चों की जैसी थी न ! उनसे तुम्हारा स्वभाव कितना मिलता-जुलता था ! कुछ लोग पता नहीं क्यों—जन्मजात इतने अच्छे होते हैं—सरल, सहज, सहृदय !

हम तीनों पैदल ही रास्ता तय कर रहे थे। तुम्हें याद है, तुम्हारी जिज्जी ने रिक्शा में चलने के लिए कहा तो मैंने टाल दिया था—आदमियों द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शा में बैठना अच्छा नहीं लगता।

तब नैनीताल में साइकिल रिक्शा का चलन नहीं हुआ था न !

सड़क के ऊपर कुछ ऊंचाई पर था रॉक्सी। मैं लपककर टिकट खिड़की की तरफ बढ़ ही रहा था कि उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया था, "आपसे किसने कहा ?" बड़ी आत्मीयता से पूछा था।

"आण्टी जी ने ।"

वह हंस पड़ी थीं, "आप रुकिये तो सही, 'बाईसिकल थीफ' कहीं भागा नहीं जा रहा।"

वह स्वयं खिड़की पर चली गयीं। लौटीं तो हाथ में तीन टिकटें थीं।

"चलिये !"

"मुझे तो होस्टल जाना है। मैं सिनेमा नही देखता ।"

'क्यो ? क्या गन्दा फिल्म है ?'

"जी, नहीं नही।"

"तो चलिये भी ।"

"जी, नही।" सकोच के साथ साथ मेरे स्वर मे तनिक दृढता भी थी।

"तो हम भी नही देखते।" उन्होंने इतनी गम्भीरता से कहा कि मुझे लगा, यदि मैं न गया तो सम्भवत ये भी नहीं देखेंगी।

"चलिये न !" उनका आग्रहपूर्ण स्वर था।

विवश भाव से मैंने देखा और सचमुच मैं चलने लगा था—चाबी भरे खिलौने की तरह।

किनारे वाली सीट पर तुम बैठी, फिर तुम्हारी जिज्जी, उसके बाद मैं—बहुत सिमटकर।

हॉल में घुप्प अधेरा था। पर्दे पर इस समय आने वाली किसी विदेशी फिल्म का 'ट्रेलर' चल रहा था। टार्जन की-सी शक्ल का कोई विशालकाय अर्द्धनग्न आदमी अपनी प्रेमिका के साथ घने जगल मे बैठा, सामने बिखरे बर्फीले पहाडों की ओर देख रहा था। प्रेमिका उसके बाहुपाश मे बधी थी ।

पर्दे पर देखने के बदले मैं नीचे फ़र्श पर कुछ टटोल रहा था अकारण। तुम्हारा ध्यान भी शायद पर्दे पर नही था। अपनी जिज्जी के कानो के पास मुह ले जाकर तुम शायद कोई महत्त्वपूर्ण बात बतला रही थीं।

इसके बाद झट से दूसरी फिल्म का ट्रेलर चल ही रहा था कि सामने वाली तीसरी सीट पर सुहास बैठा दिखलाई दिया, जीवाणु के साथ।

मेरी ओर कनखियों से झाककर वह मुसकरा रहा था।

पर्दे पर क्या क्या चला पता नहीं। दीवार पर पोस्टर चिपकाने वाले एक आदमी की साइकिल सडक पर से चुरा ली जाती है—बस, इतना ही याद रहा तब।

'इण्टरवल मे बाहर आया तो दोनो दौडकर लपके, 'गुरु, लगता है

कि मामला कुछ जम रहा है अब !" सुहास ने बड़े रहस्यमय ढग से कहा था।

मैं क्या उत्तर देता, यो ही हस पड़ा था।

जीवाणु मेरे घुटनो के पास सटकर खड़ा हो गया था, सुनने के लिए।

"कैसी लग रही है पिक्चर ?"

"ठीक है। वैसे अध्यात्म का पुट कुछ कम है।" सुहास कुछ कहे, उससे पहले ही मैंने कह दिया तो वह मुह फाडकर हसने लगा, "लक्की हो, गुरु ! नैनीताल म रहते-रहते सारी जिन्दगी गुजर गयी, कभी कुछ न बना। एक आप हैं, बारी-बारी से सारा कुनबा घुमा रहे हैं !" सुहास पर गुस्सा तो बहुत आया, किन्तु फिर भी चुप रहा। लोगो का सारा दृष्टिकोण ही रुग्ण हो तो आदमी किससे क्या कहे।

"दूसरी कौन है ?" उसने जिज्ञासा से फिर पूछा था।

"मेहा की जिज्जी, पटवाडागर वाली।"

"धन्य हो, धन्य हो, गुरुदेव ! पटवाडागर तक हाथ मार दिया !"

उसने इतने भद्दे ढग से कहा कि मेरा सारा शरीर उबल पड़ा। मैंने प्रत्युत्तर मे आक्रोश से देखा था कि वह सहम गया था। मैं कुछ उत्तर दू, उससे पहले वह खिसक गया था।

हॉल मे फिर आया तो मन बुरी तरह उखड गया था। पिक्चर थी कि खत्म होने को ही नहीं आ रही थी।

"आपको अच्छी नही लग रही ?"

"जी, अच्छी है।"

'द एण्ड' से क्षण भर पहले ही हम द्वार की ओर बढ आये थे। बाहर खुले मे सांस लेना कितना अच्छा लग रहा था। भीतर तो लगता था कि दम अब घुटने ही वाला है।

इन कुछ ही घटो मे बाहर का वातावरण बहुत बदल गया था। पूनम का भरा-पूरा चांद अतहीन पर्वत शृखलाओं के उस पार से उझककर झाक रहा था—हल्के-हल्के झटके के साथ आसमान पर चढता हुआ। अभी उगा ही था, इसलिए तनिक लालिमा के साथ पीलापन कुछ-कुछ अधिक झलक रहा था—चन्दन के विशाल टीके की तरह !

नीचे सडक पर उतरकर मैं सोच रहा था कि अब विदा लूं, तभी तुम्हारी जिज्जी ने कहा, 'लेक ब्रिज के पास बस-स्टैंड पर हमारी जीप खडी है। आपको भी उधर ही जाना होगा न?"

"जी हां।"

न चाहते हुए भी अब फिर साथ-साथ चल रहे थे।

सडक के किनारे उगाए गए चिनार के ऊंचे-ऊंचे विशाल वृक्ष एकदम नगे हो आए थे। हवा मे खडखडाते सूखे पत्तों से माल रोड भर गयी थी। कितनी सूनी सूनी वीरान सी लग रही थी! गिनती के ही कुछ लोग रह गये थे अब। हमेशा की वे ही परिचित आकृतियां तल्लीताल से मल्लीताल जाती या वहां से थकी थकी सी लौटती।

कभी पटवाडांगर आइये न! वहां चेचक के टीके तैयार किए जाते हैं।" उन्होंने कहा और फिर हवा मे बिखरे हुए बालो को जतन से सहेजने लगी थी।

सचमुच जीप प्रतीक्षा मे खडी थी। यदि मैं गलती पर नहीं तो शायद यह वही थी, जिसमे बैठकर उस दिन शाम तुम्हारे साथ चील चक्कर से आया था।

जीप मे बैठते हुए उन्हे जैसे सहसा कुछ याद आया "तू कैसे जायेगी, गुडडी?"

घर का तुम्हारा यह नाम भी है, मुझे पहली बार पता चला था!

"चली जाऊंगी! कोई डर तो नहीं लगता!'

तुम्हारी जिज्जी का चेहरा कितना सफेद था—रक्त विहीन! तुमने बतलाया कि अभी-अभी बीमारी से उठी हैं। तुम्हें कुछ रुपये देने के लिए उन्होंने हाथ बढाया तो हाथ की नीली उभरी नसें कितनी साफ झलक रही थी!

नहीं-नहीं अकेली मत जाना! आंटी नाराज होगी।' इतना कहकर उन्होंने मेरी ओर देखा "आपको होस्टल लौटने में तो देर हो ही रही होगी, फिर भी इसे छोड दीजियेगा रिश्तेदारी में ठहरी है हां, रिक्शा ले लीजियेगा।"

जिज्जी की जीप क्षण भर में ओझल हो गयी और हम दोनों बुत की तरह वहीं पर खड़े-के खड़े रह गये थे।

9

बर्फीली हवा कितनी तेज़ थी! लगता था, उड़ाकर कहीं दूर पटक देगी। लेक ब्रिज पर ऐसी ही सनसनाती हुई हवा चलती थी न!

तुम्हारा झीना-झीना-सा सफेद शाल उड़ रहा था, बगुले के पंख जैसी साड़ी फरफरा रही थी, रेशमी बाल लहरा रहे थे। ज्यों ज्यों तुम उन्हें समेटने की कोशिश कर रही थी, त्यों त्यों वे अधिक बिखरते जा रहे थे।

तुम्हारी दूधिया आकृति मे अजब सा भाव था। लगता था, तुम किसी भी क्षण रो सकती हो, किसी भी क्षण हस सकती हो! कितनी विचित्र-सी मुद्रा थी—अतिशय भावुकता से भरी तुम्हारी अधमुदी पलकों पर एक साथ कितना कुछ नही तैर रहा था!

"चलना नही?"

मेरे प्रश्न का तुमने शायद कोई उत्तर नही दिया था। न जाने किस भावुकता मे बहकर सहसा तुम मेरे पास आकर खड़ी हो गयी थी—बहुत बहुत पास! तुम्हारी सारी देह से कैसी मोहक गध आ रही थी—मुझे पहली बार जीवन में इसका अहसास हुआ था।

मैंने अपने हाथ ठड से बचाने के लिए कोट की दोनो जेबें मे ठूस रखे थे, फिर भी हवा के थपेड़े निरन्तर लगते चले जा रहे थे।

मेरे कोट की आस्तीन पर हौले से अपनी कांपती उगलियां छुआकर तुमने होठों ही होंठो मे बुदबुदाकर कहा था, "आपके कपड़े पानी की तरह ठडे हो गये हैं !"

याद है यही शब्द तुमने तब भी कहे थे, जब उस शाम घिरते अधियारे में तुम अकस्मात चील-चक्कर के मोड़ पर टकरा पड़ी थी। तब भी कुछ-कुछ ऐसी ही सद हवा चल रही थी। मेरे कपड़े इसी तरह ठडे हो आये थे।

तभी एक बस सामने से गुजरी। पीछे हटकर मैं रेलिंग के सहारे खड़ा हो गया था।

पेट्रोल के धुए के साथ-साथ हल्की सी धूल उड़ी और तुम फिर पास आ गयी थी।

सहसा मेरी निगाहें पेड़ के सहारे गठरी की तरह सिकुड़कर बैठे डोटियाल कुली पर अटक गयी थी, जिसके दुबल शरीर पर टगे टाट के चीथड़े हवा मे बिखर रहे थे। सारा शरीर नीला-नीला लग रहा था—ठडा! छोटे बच्चो की तरह नाक से निरन्तर पानी बह रहा था। खुरदरी आस्तीन से बार-बार पोंछने के कारण नाक कितनी लाल हो गयी थी!

मैंने तुम्हारी बात का कोई उत्तर नही दिया तो तुम भी जिज्ञासा से उस ओर, उसकी तरफ उसी तरह देखने लगी थी—उन्हीं निगाहो से।

अपनी मुट्ठी में भिचे नन्हे से मखमली बटुवे से तुमने कुछ सिक्के निकाले और उसकी ओर बढ़ाये तो कितना अच्छा लगा था, उस पल!

मैंने तुम्हारी ओर देखा और तुम सहसा मुसकरा पड़ी थी।

"चलो, छोड आऊ तुम्हें!" मैंने झिझकते हुए कहा।

"नही—नही!"

'क्यो ?"

'आपको देर नही हो जायेगी, इत्ती सर्दी में !"

मुझे लगा, शायद तुम कहना कुछ और चाह रही थी, परन्तु कह यह गयी।

लेक ब्रिज पर इस समय यद्यपि अधिक भीड़ नहीं थी, फिर भी दो चार परिचितो का टकरा पडना साधारण-सी बात थी। अभी-अभी डॉ० गुप्ता अपनी पत्नी के साथ जा रहे थे। सुहेल और रत्नाकर को भी देखा था!

तुम्हारे साथ चलना एक समस्या थी किन्तु न चलना उससे भी विकट।

मेरे मनोभावो को शायद तुम अपनी पारखी निगाहों से ताड चुकी थी।

"आप इतने परेशान क्यो लग रहे हैं?' तुमने बहुत पास आकर कहा,

"जब डॉक्टर गुप्ता डाकखाने के पास जा रहे थे, तब भी मैं आपकी ओर देख रही थी। सुहेल रामजे रोड की तरफ से आया तो आपका चेहरा कैसा हो आया था! क्या हम कोई गुनाह कर रहे थे?" तुम्हारे शब्दो मे तल्खी ही नही, असह्य पीडा भी थी।

आज तुम सहमा यह सब क्या कह रही हो, मेरी समझ मे नही आ पा रहा था।

"तुम समझती नही बात !"

"मैं सब समझती हू !" बिखरते हुए बालो को समेटते हुए तुमने कहा था, "इतनी बच्ची नहीं, जितनी आप समझते हैं! सड़क पर साथ-साथ चलने से क्या हो जायेगा? यही कि अकल देखेंगे, आटी देखेंगी! यही तो भय है न आपको? मैं कहती हू वे देखेंगे भी तो क्या होगा? भय वहीं रहता है, जहा पाप छिपा होता है! आपने ही तो कहा था। हमारे मन मे क्या कही कोई पाप है जो !' कहते-कहते तुम चुप हो गयी थी।

तुम्हारे माथे पर उभर आयी तिरछी लकीरें आज भी मेरे स्मृति पटल पर ज्यो की त्यो अकित हैं। जब तुम नाराज होती थी तो तुम्हारी सुन्दरता कितनी बढ जाती थी।

आप परेशान न होइए, मैं स्वय चली जाऊगी !" तुमने जसे अन्तिम निणय ले लिया था।

"नही-नही, मैं कह तो रहा हू !" मैंने तडपकर कहा तो तुम सहसा पलट गयी थी, "आपको रचमात्र भी कही कष्ट हो तो मुझे अच्छा नहीं लगेगा। आपको क्या पता मुझे सारी रात नींद नहीं आयेगी। आपका दिल मैं किसी भी हालत में नही दुखा सकती—यही तो मेरी सबसे बडी कमजोरी है !" तुम्हारा स्वर भीग आया था।

प्रत्युत्तर मे मैं चुप रहा।

महिलाएं कितनी जल्दी समझदार हो जाती हैं—सयानी! आज तुम्हारी बातें कहीं दूर तक असर कर गयी थीं।

मैंने तुम्हारी ओर देखा तो निगाहें टकरा पडी थीं।

अब न तुमने कुछ कहा था और न मैं ही कुछ बोला था। दोनो चुप चाप चल पडे थे। देर तक हमारे बीच मौन सवाद चलता रहा था। मुझे

लग रहा था, बातों के माध्यम से हम जितना कुछ कह पाते हैं, उससे कहीं अधिक चुप रहकर कहा जा सकता है ।

लेक ब्रिज के चौराहे के बाद हम बायीं ओर को मुड़ गये थे—मल्लीताल की दिशा में । रिक्शा स्टैंड पर इस समय एक भी रिक्शा नहीं था । हां, चढ़ायी की तरफ, बांज के पेड़ के सहारे एक डांडी अवश्य खड़ी थी । कुहनियों में हाथ छिपाए एक डांडी वाला थर-थर कांप रहा था । दूसरा बार-बार बीड़ी सुलगाने का असफल प्रयास कर रहा था । हवा इतनी तेज थी कि दियासलाई जलते ही फुप्प से बुझ जाती थी ।

"पैदल चलें ?"

"पैदल चलने से देर नहीं हो जाएगी ? होस्टल भी तो लौटना होगा आपको ? उस दिन की तरह कहीं आज भी भूखे ही न रह जाएं !" तुमने कुछ सोचते हुए कहा ' रिक्शा वैसे भी आपको पसन्द नहीं !"

"तो नाव ले लें ।" मैंने सुझाया तो तुमने उसी तरह कहा, ' देखते नहीं, कितनी ऊंची ऊंची लहरें हैं ! सारी झील में एक भी नाव नहीं ।"

कहने को तो तुम कह गई थी, परन्तु पता नहीं क्या सोचकर 'दर्शन घर' से पहले ही सहसा मुड़ पड़ी थी, "चलिए भी । जो होगा देखा जायेगा ! ' तुमने समाधान सुझाते हुए कहा और तुम्हारे पांव अब जल्दी-जल्दी घाट की सीढ़ियां उतरने लगे थे । क्षण भर में हम किनारे पर झूलती नावों के समीप पहुंच गये थे । लहरें आज हमारे पांवों के कितने पास तक आ-आकर लौट रही थीं ! लगता था, कहीं जूते न भीग जायें ।

याद है तट की गीली बजरी से लगी, एक साथ सटकर खड़ी, किनारे पर पछाड़ खाती लहरों में डोलती नावें ऐसी लग रही थीं जैसे बहुत-से विशालकाय मगरमच्छ किनारे की ओर मुंह किए एक साथ हिल-डुल रहे हों ।

अधिकांश नावें रीती थीं—एकदम नंगी ! पतवार और गद्दियां लेकर नाविक उन्हें किसी जड़ या खूंटी के सहारे बांधकर अपने-अपने डेरों पर रात बिताने चले गये थे ।

सवा आठ बज रहे थे अब ।

केवल दो-तीन नावें थीं, जाने के लिए तैयार ।

हमें देखते ही सब चील की तरह झपट पड़े थे।

"ह हो, बाबू शैप, सिंगिल या डबल बोट ?"

"डबल से ही चलेंगे !" तुम्हारे कहने से पहले ही मैंने कह दिया था। सिंगल से चलना खतरे से खाली नहीं था। लहरें ऊंची थीं, किसी भी क्षण उलटने का खतरा !

"तैरना आता है ?"

मैंने मुड़कर पूछा तो तुम हंस पड़ी थी, "आपको तो आता है न ?"

"हां, आता तो है !" मैंने सिर हिलाकर कहा था।

"तो मुझे नहीं बचायेंगे ?"

"नहीं।"

"डूबने देंगे ?"

"हां।"

"सच्ची ई !" तुम हंसने लगी थी ज़ोर से।
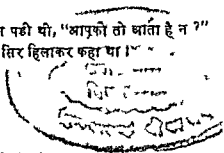
लहरें रह रहकर किनारे पर पछाड़ खाकर गिर रही थी, जिससे नावें हवा में झूलने-सी लगतीं। इसलिए नाव पर चढ़ना कठिन लग रहा था। नाव की नाक के पास रस्सी बंधी थी। खूंटा छुड़ाकर भागने वाले बछड़े को रोकने के लिए, जिस तरह दोनों हाथों से पूरी ताक़त के साथ खींचते हैं, उसी तरह बूढ़ा नाविक रस्सी को अपनी ओर खींच रहा था। उसके जजर हाथों पर उभरा नसों का जाल साफ़ झलक रहा था।

पहले उछलकर मैं चढ़ा था नाव पर, फिर तुम्हारा हाथ थामा तो तुम पानी में गिरते गिरते बची थी। नाव अपने दोनों बाजुओं पर किस तरह डगमगा आयी थी। पल भर दोनों लड़खड़ाते से एक दूसरे का सहारा लिए खड़े रहे।

"बोट आप खुद चला लेंगे, शा'ब ?" नाव वाले ने पूछा और मैंने स्वीकृति में सिर हिला दिया था।

यह देखकर तुम्हें कितना अचरज हुआ था !

"आपसे नहीं चल पायी तो !"

"यही तो होगा न कि तुम डूबकर मर जाओगी !" मैं कहते-कहते हंस

पड़ा तो हठात् तुम भी हँसने लगी थी।

गुहास के साथ कई बार नाव चला चुका था, इसलिए हाथों में छाले पड़ गये थे, जिनके निशान अब तक बरकरार थे।

बूढ़े नाविक ने पैसे जेब में रखकर नाव को झील की ओर धकेला तो फिसलकर नाव किनारे से दूर हट गई थी।

पूर्णिमा की उजली उजली रात थी। सागर की तरह इस नन्ही झील में भी नन्हा ज्वार उतर आया था। हिम श्वेत लहरें ऊपर तक उठ रही थीं। हिचकोला में डालती नाव ऐसी लग रही थी, जैसे पारे के सागर में सूखा नन्हा पत्ता काँप रहा हो।

पिघली चाँदी की झील! चाँदी की लहरें! आसमान से अमृत बरसाता भरा भरा चाँद! पेड़, पहाड़ मकान—सब चाँदनी में नहाकर कितने उजले हो गये थे! झील में डूबी प्रशान्त नगरी कितनी मोहक लग रही थी—स्वप्नमयी।

तुम्हारा चेहरा मेरी ओर था अब। अपनी अधमुँदी पलकों से देखती पता नहीं किस स्वप्न में खोयी थी! दोनों हाथों से पतवार चलाता चलाता मैं भी कहीं गहरे में डूब गया था। मुझे लग रहा था, जैसे ये हाथ मेरे नहीं हैं—किसी यन्त्र की सहायता से अपने आप चल रहे हैं नाव पीछे की तरफ भाग रही है! सामने तुम नहीं बैठी हो—मैं कोई सपना देख रहा हूँ

दूर-दूर तक कहीं कोई प्राणी नहीं था! हाँ दाहिने किनारे के पास काले-काले दो धब्बे-से चमक रहे थे, शायद दो नावें लौट रही थीं—मल्लीताल से।

'पानी पर जहाँ-जहाँ चाँद का प्रतिबिम्ब पड़ता है वहाँ-वहाँ पर एक साथ कितने तारे-से झिलमिलाने लगते हैं!" तुमने छोटी बच्ची की तरह चहकते हुए कहा था—मुग्ध दृष्टि से देखते हुए।

मैं केवल तुम्हारी तरफ देख रहा था

तुम्हारे सफ़ेद कपड़े इस समय कितने सफ़ेद लग रहे थे! सुनहरे बाल चाँदी के रेशों की तरह हवा में उड़ रहे थे। चाँद ठीक तुम्हारे चेहरे पर चमक रहा था लगता था तुम्हारी आकृति से किरणें सी फूट रही हैं।

तुम चुप थी।

केवल पतवार चलाने की छप्-छप् आवाज आ रही थी।

मेरी ओर घूरकर तुम इस प्रकार देख रही थी, जैसे नशे मे हो। पता नहीं कभी-कभी क्या हो जाता था तुम्हें जैसे किसी ने जादू से सम्मोहित कर दिया हो। तुम मेरी तरफ निर्निमेष देख रही थी और उसी तरह टूटी-टूटी क्षीण-सी आवाज म कुछ बोलती जा रही थी कि मैं परेशान हो उठा।

"मेरा हाथ छुआ!' खोये खोये से स्वर मे बुदबुदाते हुए तुमने कहा था और अपनी नन्ही सी हथेली मेरी ओर हवा मे बढा दी थी।

पतवार को छोडकर मेरा हाथ स्वचालित यन्त्र की तरह आगे बढ़ गया था। तुम्हारी हथली को मैंने छुआ। वह बर्फ की तरह एकदम ठंडी लगी। एक अजीब सी सिहरन हुई—सारे शरीर में।

हाथ पीछे की ओर समेट ही रहा था कि उसी आवाज मे तुमने फिर कहा था हटाओ नहीं ऐसे ही रखे रहो मुझे अपनी ओर देखने दो देखने दो न !' दबी आवाज मे तुम कराह-सी पड़ी थी।

पागल तो नहीं हो गयी!

तुम्हारी इस स्थिति से मैं घबरा उठा था।

"आपके माथे पर पसीना झलक रहा है पोछ दू !" मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किये बिना ही तुम अपनी जगह से उठने लगी तो नाव डगमगा आयी थी।

"नहीं-नहीं !" मैं चिल्ला पड़ा था, "हिलना-डुलना नहीं! नाव उलट जायेगी!' मैंने डपटकर कहा तो तुम उन्ही घूरती आंखो से देर तक देखती रही थी।

तभी पता नहीं तुम्हें क्या सूझा, दोनो हाथों से तुमने कसकर पतवार पकड़ ली थी, "आपको मरने से डर लगता है?"

"ना!"

"तो अच्छा है साथ-साथ मर जाएगे। आपके साथ मरने मे मुझे तनिक भी कष्ट न होगा। आप नहीं समझ सकते कि मैं आपको सच, मैं ?" गीली पतवार पर माथा टिकाकर तुम सिसकने लगी थी।

"मेन्हा!'

10

कुछ सामान मैंने समेट लिया था। पुस्तकें एक ओर रख ही रहा था कि 'द प्रोफेट' के भीतर कागज का एक छोटा-सा टुकड़ा दीखा। पेंसिल से तुम्हारा लिखा लिया। पता नहीं तुमने कब रख दिया था!

" भैया इधर बहुत पीने लगे हैं। डैडी कितना कुछ छोड़ गए थे, सब उन्होंने समाप्त कर दिया है। नशे की हालत में मम्मी पर हाथ उठाने लगते हैं। मम्मी दिन रात रोती हैं। मैं वहां होती तो " इससे आगे का हिस्सा फटा हुआ था।

एक बार, दो बार—बार-बार उसे पढ़ा और फिर न जाने क्या सोच कर उसी तरह उसे सहेजकर रख दिया था।

किताबों के ऊपर किताबें—ईंट की तरह चिन ही रहा था कि सुहास आ धमका "गुरु, यह क्या ?"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया था। अनमने भाव से, उसी गति से हाथ चलते रहे।

"डेरा बदल रहे हैं क्या ?' उसने सहज विस्मय से पूछा।

'नहीं, कमरा बदल रहा हूं।"

"क्यों, कहां जा रहे हैं ?'

"पीछे वाली रो में "

"वहां तो एक भी कमरा खाली नहीं ! फिर उधर सीलन कितनी है। धूप तो आती ही नहीं ।"

"हां-आं ।" इससे अधिक मैंने कुछ नहीं कहा था।

बाएं किनारे का एक कमरा अर्से से खाली था। कहते हैं गत वर्ष 'बेरी-बेरी' की बीमारी से पिथौरागढ़ का एक छात्र वहां मर गया था, तब से उसमें कोई नहीं गया था।

"वार्डन से पूछ लिया ?'

हूं।"

मैं उसी तरह सामान बांधता चला जा रहा था। मेरे बक्से के पीछे टूटी हुई चूड़ियों के कुछ टुकड़े पड़े थे। शराब की छोटी छोटी दो चपटी

शीशियां।

शायद सुहास या सुहेल ने कभी पीकर फेंक दी हो।

सुहास ने फिर कोई प्रतिरोध नहीं किया। सिगरेट सुलगाता हुआ बाहर चला गया।

सचमुच ही यह कमरा सीलन भरा था—अंधेरा। कितनी बदबू थी। चारों ओर मकड़ी के जाले उलझे हुए थे। चौकीदार ने उन्हें साफ़ किया तो मैं सामान सजाने लगा।

सामान भी क्या था—कुछ किताबें, एक बक्सा, एक बिस्तरा।

रात को देर तक पढ़ता रहा। सोया तो नींद आयी नहीं।

कल जो कुछ घटित हुआ, उससे मन बड़ा खिन्न था। सारे हास्टल मे यही चर्चा थी। वार्डन तक को शायद पता चल गया था। इसलिए मैंने जब कमरा बदलने की बात कही तो वार्डन ने आपत्ति नहीं की कि प्रथम वर्ष के छात्र को अकेला कमरा नहीं दिया जा सकता।

जंगल मे घास काटने तथा लकड़ियां तोड़ने वालियों के साथ उसके कई किस्से प्रचलित थे। कॉलिज की लड़कियां छेड़ने मे भी वह काफ़ी यश अर्जित कर चुका था।

मैंने एक दिन तुमसे जिक्र किया तो देर तक मुंह भींचकर हंसती रही थी।

' मुझसे एक दिन कहता था," तुमने कहा—' मेहा, चल, तुझे तैरना सिखला दूं।"

"मुझे तैरने का शौक नहीं

"मैंने कहा, तो जानते हो क्या कहने लगा—सीखेगी तो शौक अपने आप पैदा हो जाएगा। तू यहीं जमीन पर सीधी लेट जा और मछली की तरह हाथ-पांव हिला !

" मेरे मना करने पर वह मुंह फाड़कर हंसने लगा—तू निरी निरी बुद्धू है। जीवन मे कुछ नहीं कर सकेगी।

" कुछ रुककर वह फिर बोला—अच्छा, तू इधर आ ! अपनी आटी के पिंजड़े में से एक खरगोश बाहर निकालकर छोड़ दे। फिर तुम और

11

सुबह अभी सोया हुआ ही था कि किसी ने दरवाजा खटखटाया। देखा—सुहास खड़ा है।

गमगीन चेहरा! बिखरे हुए बाल! उनींदी लाल आंखें, जैसे रातभर सोया न हो।

'विराग, क्या तुम सचमुच बुरा मान गये ?"

"नहीं नहीं !" मैंने आंखें मलते हुए कहा।

"मुझे सारी रात नींद नहीं आयी, पंडत !" अपनी अंगुलियों से बिखरे बालों को पीछे फेंकते हुए वह बोला, 'यह ठीक है यार, मैं बुरा हूं। यह भी गलत नहीं कि एक एक क्लास में दो-दो, तीन तीन साल लगा रहा हूं। घरवालों ने मेरी हरकतों से तंग आकर, अपना पिंड छुड़ाने के लिए यहां भेज दिया है। इस बारे में भी दो राय नहीं हो सकती कि दुनिया का कोई भी ऐब मुझसे छूटा नहीं है। लेकिन, गुरु, मैं भगवान को साक्षी रखकर कह रहा हूं, इतना अपमानित मैंने जीवन में अपने को कभी अनुभव नहीं किया, जितना आपके जाने पर! आप सज्जन हैं न! आपके संसर्ग में मैं अपने में बहुत बड़ा परिवर्तन अनुभव कर रहा था। लोगों ने मुझे कभी आदमी नहीं समझा। आपके अलावा मुझे कभी किसी ने अपनापन नहीं दिया, न इतनी इज्जत ही !" उसका गला कहते-कहते भर आया था।

"इस कमरे में केवल पढ़ने की सहूलियत से आया हूं " मैं कह ही रहा था कि वह सहसा बोल पड़ा, "वहां कौन-सी असुविधा है! आप आराम से रहिए! पढ़िए। मैं आपको डिस्टर्ब नहीं करूंगा। अपनी बुरी लता से तो मुझे छुटकारा मिलने से रहा। हां, इसका प्रामिस करता हूं कि जब तक आप हैं, कमरे में कोई बदतमीज़ी नहीं करूंगा अब।"

मेरे कुछ कहने से पहले ही उसने चारपाई पर बिछा बिस्तर गोलाई में लपेटा और बक्से का कुंडा पकड़कर बाहर की तरफ़ चल दिया।

अनमने भाव से मैं चला गया, परन्तु अब उस कमरे से लौटना मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लग रहा था

अभी तीसरा दिन भी बीता न था कि अपने बक्से के पीछे मुझे फिर

एक रीती बोतल दिखलाई दी थी। उसी के साथ एक अधलिखा पत्र भी गिरा था—कल्पनासिंह के नाम। धरवृक्ष की तरफ, पानी की टंकी के पास मिलने का समय निश्चित किया था सुदेल के कमरे में कल रात बीड़ी में भरकर अत्तर की दम लगा रहा था। जीवाणु भी साथ दे रहा था। इस बात की बड़ी चर्चा थी कि वाडन की जो गाय खो गयी थी, रात के अंधियारे में इसी ने उसे चुपके से खूटे से खोला था और अकेले ही पाइंस तक खदेड़ आया था।

"लोग कहते हैं कि ।" एक दिन मैं कह ही रहा था कि वह बोल पड़ा, "वाडन की कामधेनु मैंने भगा दी, यही न!" वह हंस पड़ा, गुरु उस पुरानेवाले बुड्ढे चौकीदार का हिसाब इस काइयां ने नहीं दिया तो गाय तो भागनी ही थी। आश्चर्य की बात तो तब होती, जब गाय खूटा तुड़ाकर नहीं भागती । हो हो!' वह हंस पड़ा था।

कोर्स की किताब परे पटककर, उसने कहानियों की कोई पुस्तक उठा ली थी, जिसके भीतर वाले पहले पेज के बाएं सिरे पर, सबसे ऊपर तुम्हारा नाम लिखा था।

शायद तुम्हारे घर से उठा लाया हो!

12

परीक्षाएं अब शुरू होने ही वाली थीं। हम लोग मल्लीताल से लौट रहे थे। रात के नौ बजने वाले थे। शायद बज भी गए हों तो आश्चर्य नहीं!

सब जल्दी-जल्दी चल रहे थे—पूरी रफ्तार से। भोजन का वक्त कब का बीत चुका था।

माल रोड के किनारे, दीवार को तोड़कर उग आये बांज के वृक्ष के तने पर चिपकाये गए सादे पोस्टर देख रहा था। सम्भवतः रावसी के पास से गुजर रहे थे हम।

इतने में ऊपर से भीड़ का रेला छूटा। शायद 'शो' खतम हुआ हो! नीचे माल रोड पर उतरती भीड़ की ओर झांका ही था कि दीवार से

सटी-सटी चलती तुम दिखलायी पड़ी थी !

और तुम्हारे साथ सुहास !

पीछे-पीछे तुम्हारे रिश्ते की एक छोटी बहन भी चल रही थी, जिसे शायद तुम लायी होगी अपने साथ।

अपनी आंखों पर विश्वास न हो पाया। मैं आगे-आगे चलता हुआ, मुड़कर पीछे झांक रहा था।

यह क्या देख रहा हूं—मुझे सच नहीं लग रहा था।

तुम दोनों खिलखिलाकर हंसते हुए नीचे उतर रहे थे।

मैंने दूर से, एक बार, अन्तिम बार मुड़कर फिर देखा तो केवल तुम्हारी पीठ दिखलायी दी थी। उसी के पास सुहास की। माल रोड के किनारे लगे तारों को छूती हुई तुम लम्बे-लम्बे डग भरकर लौट रही थी—उड़ती हुई सी।

वह तुम थी, मेहा ! मुझे तब सच नहीं लगा था। आज इतने वर्षों बाद भी सच नहीं लगता।

सपने बिखरते हैं तो मन कैसा-कैसा हो जाता है ! भ्रम के टूटने के साथ-साथ कितनी यन्त्रणा !

तुम किसी और के साथ हंस-हंसकर बातें भी कर सकती हो, इसकी कल्पना ही मेरे लिए असह्य हो आयी थी। शायद आज कोई त्योहार था। देर से आने वालों के लिए महाराजजी ने पहले से ही थालियों में भोजन रख दिया था।

हम लोग मेस में पहुंचकर खाना शुरू ही करने वाले थे कि पीछे से सुहास का जैसा स्वर सुनाई दिया, "गुरु, खाने भी लग गए अकेले-अकेले।"

कोई उत्तर न देकर मैं उसकी ओर ताकता रहा।

वह आज बहुत प्रफुल्ल लग रहा था।

डाइनिंग टेबुल पर उसकी भी थाली लगा दी गयी थी। पहला ही कौर तोड़कर वह मुंह में डालने ही वाला था कि न जाने क्या हुआ ! उसी की कुहनी से थाली उलट पड़ी और झन्न से फ़र्श पर जा गिरी।

दूर दूर तक सब्ज़ी बिखर गयी थी। कपड़ों पर तमाम छींटे-ही छींटे !

मेरे होठों तक कौर आता-आता ठहर गया था। मैंने उसकी ओर देखा—कपड़े छिटकता हुआ वह उठ रहा था।

खाना इतना ही शेष था। अतः रूमाल से पैंट पोंछता हुआ वह बाहर की ओर निकल पड़ा था।

पता नहीं क्यों मुझे थाली का गिरना, उसके कपड़े खराब होना और उसका भूखा ही उठकर चला जाना कहीं बहुत अच्छा लगा था।

यह पहला अवसर था, जब किसी की परेशानी से मुझे खुशी का अहसास हुआ था। इतना नीचे भी गिर सकता हूं, मुझे सच नहीं लग रहा था।

कमरे में आकर मुझसे पढ़ा नहीं गया। सुहास के सोते ही मैंने बत्ती बुझा दी और सोने का प्रयास करता रहा।

मेरा सारा विश्वास डगमगा रहा था।

हे भगवान, ऐसा भी कहीं हो सकता है!

मेहा, क्या सचमुच वह तुम थी! हंसती हुई तुम! मुझे सब झूठ, एकदम झूठ लग रहा था।

भीतर अंधेरे में मेरा दम घुटने-सा लगा तो कमरे से बाहर निकल आया था। पता नहीं कब तक बदहवास-सा अंधेरे में भटकता रहा था।

एक जोड़ी अधमुंदी आंखें आपको कोई कष्ट हो तो मैं सह नहीं सकूंगी इसी तालाब में कूदकर किसी दिन आत्महत्या कर लूंगी मुझे देखने दो न जी भरकर!

इतना बड़ा छल!

इतना लुटा-लुटा-सा मैं क्यों अनुभव कर रहा था अपने को! बिस्तर में मुंह छिपाकर क्यों मैं बच्चों की तरह रोने लगा था?

इतनी छोटी सी बात के लिए इतना अधिक मुझे नहीं सोच लेना चाहिए था न! सुबह उठकर मुझे लगा, यदि सुहास के साथ तुम पिक्चर चली भी गयी तो क्या गुनाह हो गया?

पर, तुमने ही तो कहा था न कि वह वह अच्छा नहीं, बहुत बुरा है। फिर उसके साथ क्या तुम्हें इस तरह घूमना चाहिए था?

यह भी असम्भव नहीं मेहा, तुमने मुझसे झूठ बोला हो। छल किया हो। तुम्हारा वह चित्र जो मैंने कभी फाड़ दिया था, तुमने सुहास को ही दिया हो!

नहीं नही, तुम झूठ नही बोल सकती। मुझसे झूठ बोलकर तुम्हें क्या मिलेगा!

मैं न सुबह पढ़ पाया और न कॉलिज मे ही। शाम को 'ब्लू-कॉटेज' के पास तक पहुचकर पाँव अपने-आप मुड़ आये थे—पीछे उसी दिशा म, जहाँ से अभी-अभी आ रहा था। झील के किनारे एकान्त मे लोहे की ठंडी बेंच पर बैठा बैठा धुधलाती लहरो की ओर अपलक देखता रहा था।

दूसरे और तीसरे दिन भी न गया तो रात को सुहास ने कहा, "विराग, पढ़ाने नहीं जा रहे क्या? डॉक्टर दत्ता बहुत याद कर रहे थे।"

"यार, तबीयत ठीक नहीं।"

"तब तो जरूर जाना चाहिए। डॉक्टर साहब को दिखला लेते।"

"अब इम्तहान भी है। शायद मैं नहीं जा पाऊगा।"

"यह क्या कह रहे हो? हां आओ न!" उसने तनिक ऊचे स्वर मे आत्मीयता के साथ कहा।

चौथे दिन न चाहते हुए भी जाना पडा। पता नहीं डॉक्टर दत्ता का क्या काम हो!

पर वह घर मे नहीं दीखे तो मुझे बड़ी राहत-सी मिली थी।

अपनी मेज पर माथा टिकाए तुम बैठी थी। कमरे मे मेरे प्रवेश करते ही तुमने सिर ऊपर उठाया। तुम्हारी आंखो में एक साथ कितने ही प्रश्न उभर आये थे।

"इत्ते दिन कहा रहे? सच, मैं तो घबरा गयी थी!" अपने मुरझाये होठो पर फीकी सी मुस्कान लाते हुए तुम कह रही थी, "इतो परेशान मैं कभी नही रही।" तुम्हारे चेहरे पर आतक का अजीब सा भाव था।

"परसो मैंने एक सपना देखा—!" कहते-कहते तुम्हारी आंखें बड़ी बड़ी हो आयीं, "सच्ची, मैंने देखा था—चीनापीक से दो आदमी नीचे

गयी थी। नयी-नयी शादी करके, बेचारे हनीमून मनाने यहां आये थे ।"

" "

"उस दिन हमारी नाव उलट जाती तो सच क्या होता ?" जिस गंभीरता से तुमने पूछा था, उसी गम्भीरता से मैंने उत्तर दिया था, "बहुत अच्छा होता ।"

"सच्ची ई !" तुम हंस पड़ी थीं। एकदम कपास की तरह कितनी हल्की हो आयी थी।

"कल सुहास के साथ हम बोटिंग के लिए गये थे। सच, बड़ा मजा आया !" कुछ रुककर तुमने कहा था।

मैं तुम्हारे चेहरे की ओर टकटकी बांधे देख रहा था।

"पढ़ना नहीं ?" तनिक डपटते हुए मैंने कहा तो फिर तुम पानी से भरे बादलों की तरह गंभीर लग रही थीं। क्षण-क्षण में तुम कितना बदल जाती थीं। उस समय तुम्हें देखकर लगता नहीं था कि तुम वही मेहा हो, जो अभी अभी चिड़िया की तरह चहक रही थी।

तुमने अनमने भाव से कॉपी खोली। बस्ते से पेंसिल निकाली और उस पर आड़ी तिरछी रेखाएं बनाकर बार-बार काटती चली जा रही थी।

"परसों मम्मी आयी थीं बरेली से !" तुम व्यर्थ की रेखाएं खींचती हुई खोयी खोयी-सी कह रही थीं, 'मैं सोच रही थी, आप आते तो आपको अवश्य दिखलाती। मेरी मम्मी का स्वभाव कितना अच्छा है ! आप मिलते तो खुश हो जाते ।"

मैं किताब खोलकर पढ़ाने लगा था अब।

मेरा मन पता नहीं क्यों इतना परेशान था ! पढ़ाकर मैं उठने लगा तो तुम भी मेरे साथ-साथ उठ पड़ी थीं। भीतर वाले दरवाजे तक मुझे छोड़ने आयी थी, "मम्मी की तबीयत ठीक नहीं। अंकल कैंसर की जैसी कोई बीमारी बतला रहे थे । कैंसर में आदमी अधिक नहीं जीता है न !"

एक गहरी सांस लेकर मैं बाहर निकल आया था।

13

सुहास ने एक छोटी सी काष्ठ प्रतिमा मेरी ओर बढ़ाते हुए पूछा, "कैसी है ?"

देखते ही मैं धक् से रह गया।

"अच्छी है !" यों ही कहने के लिए कहा मैंने।

'कितने की होगी ?"

मैं कोई उत्तर न दे पाया।

अपनी हथेली पर रखकर, बार-बार उलट पलटकर उसने प्रतिमा को चारों ओर फिर देखा, "चायस की दाद देता हूं, गुरु ! आपको पसन्द है ?"

मैं यों ही हंस दिया था।

"अध्यात्म पुरुष हैं न आप ! इसलिए यह आपके ही योग्य है। मेरे तो छूने मात्र से अपवित्र हो जायेगी !" वह हंस पड़ा था, अपनी सदा की उन्मुक्त हंसी में।

मेरी पुस्तकों के ऊपर, बड़े जतन से उसने मूर्ति रख दी—कुतुबमीनार की तरह, "इसे कभी देखेंगे तो इस दुष्टात्मा की याद आ जायेगी।" वह फिर हंस पड़ा था।

दीवार पर कील के सहारे टंगे शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखता हुआ वह टाई की गांठ ठीक करने लगा। कंघी करने के बाद अपने ऊपर उठे बालों को हथेली से हौले-हौले थपथपाता हुआ वह बोला, "शायद आज देर हो जायेगी—खुदा हाफ़िज़ !" वह बाहर चला गया था।

जब भी वह खुश होता, विदा होते समय इसी शब्द का प्रयोग किया करता था।

अभी तक भी मैं इस प्रतिमा की ओर अपलक देख रहा था—भगवान बुद्ध की यह मूर्ति हू-ब हू वैसी ही नहीं-नहीं, वही थी जो कस मल्लीताल से मैंने खरीदी थी – फिर मेरे ही पास लौट आयी थी आज !

उस दिन मैं तुम्हें पढ़ाने से उठ ही रहा था कि मेरी ओर देखते हुए तुमने धीरे से कहा था, "आपके पास कुछ पैसे हैं ?"

अपनत्व की जिस गहरी भावना के साथ तुमने कहा था, वह मुझे

हीं दूर तक छू गयी थी।

"क्या चाहिए ?" मैंने उसी आत्मीय स्वर मे पूछा था।

"कुछ जरूरी काम है।"

"फिर भी ।"

"किसी के बथ-डे मे एक प्रेजेण्ट देना है।'

"आज ही ?"

"ना-ना, कल तक भी चलेगा।"

मैं पल भर असमजस मे डूबा सोचता रहा। इन कुछ ही क्षणों मे कितना कुछ नही सोच गया था मैं। फिर भी मैंने कहा, 'कल दे दू तो ?"

"चलेगा ।"

दरवाजे तक जाते-जाते मैं ठहर गया था। तुमसे मुड़कर पूछा था, "कितने चाहिए ?"

तुम हस पड़ी थी, उसी अम्लान हसी में, "दो-तीन करोड़ बस्स !"

मैं भी अपनी हसी रोक न पाया था, "बस्स, यह तो बहुत ही कम है !"

यह सुनते ही तुम कितनी हल्की हो आयी थी—खिलखिलाकर हसती हुई।

"हां मुझे तो वक्त मिलेगा नहीं। आप ही कुछ ले आइयेगा न !"

तुम्हारा यह कहना कितना अच्छा लगा था।

मुझे लग रहा था, अपनेपन का यह अधिकार अभी तक भी तुम्हारे हृदय के कोने में मेरे प्रति सुरक्षित है।

"जो मैं लाऊंगा, तुम्हें पसन्द आयेगा ?"

"क्यों नहीं ?"

दो कदम चलकर मैं फिर लौट आया था, "हां, यह तो बतलाया नही, किसे देना है, अपनी सहेली या ।"

"जो दोनो के पास आ सके, ऐसा ले आइयेगा—ड्राइग रूम म रखने-जैसा !'

तुमने मुझसे ही क्यों कहा, सुहास से भी तो कह सकती थी। वह

तुम्हारे लिए क्या क्या नहीं कर देता, पर मैं जैसे एक ही परिधि पर निरन्तर घूमने लगा था—चकई की तरह।

पर मेरे पास तो आज कुछ भी नहीं था !

अपनी कुछ किताबें बेचकर मैं उपहार लाया तो तुम कितनी प्रसन्न हो उठी थी।

"ऐसा ही कुछ चाहती थी मैं ? ठीक ऐसा ही ! सुहास का आज बर्थ-डे है ! मुझे कब से छेड़ रहा था कि मेरे बर्थ डे पर क्या उपहार दोगी ! सच, इसे देखकर वह कितना खुश हो जाएगा !' तुमने मेरी ओर देखते हुए पता नहीं किस औपचारिकता में कहा था 'थैंक्यू !"

मुझे लगा था, जैसे थैंक्यू के साथ-साथ एक चाटा भी जड़ दिया हो तुमने !

पुस्तकों के ऊपर रखी काठ की उसी प्रतिमा की ओर मैं टकटकी बांधे देख रहा था। प्रतिमा हाथ में लेकर निरखता-परखता रहा—कितनी दूकानें टटोलीं इसके लिए ! इम्तहान के दिनों का कितना समय नष्ट किया ! उन बहुमूल्य पुस्तकों को मिट्टी के भाव तौलकर बेच दिया जिन्हें मैंने कितने वर्षों से सहेजकर रखा था—विवेकानन्द, जिब्रान, उपनिषद् भाष्य ! क्या इसके लिए, इसी सबके लिए ?

मैं पता नहीं रौ में बहता क्या-क्या सोचता रहा ! मुझे होश तब आया, जब मेरी मुट्ठियों में अनायास आ गए दबाव के कारण काठ की यह मूरत टूट गयी थी। नुकीले टुकड़े चुभने के कारण मेरी दाहिनी हथेली से लहू बह रहा था ! मुझे न पीड़ा का अहसास हो रहा था, न किसी और तरह का कोई दर्द ही। जैसे वह हथेली मेरी नहीं किसी और की हो ! वह रक्त की नहीं, रंग की धार हो !

14

गांव आकर मैं अपने को कितना बिखरा अनुभव कर रहा था ! जब भी तनिक एकान्त आता, सहसा सामने तुम खड़ी हो जाती !

तुम्हारी अधमुंदी पलकें, दूधिया चेहरा, बिखरे-बिखरे बाल—मुझे साफ़ दिखलाई देते !

एक विचित्र-सी यन्त्रणा की लपटों से गुजर रहा था मैं। जो सपना तुमने कभी देखा था, वही बार-बार क्यों परेशान कर रहा था। मैंने कितनी बार खुली आंखों से उसे घटित होते हुए देखा था ! ये आकृतियां हमारी होते हुए भी मुझे क्यों परायी-सी लगती थीं, जैसे किसी और की हों।

सुबह शाम अकेला ही निर्जन वनों की तरफ निकल पड़ता। देर तक, दूर-दूर तक भटकता रहता।

मुझे सबमें अब एक विचित्र सा परिवर्तन अनुभव हो रहा था। बर्फीली चोटियों का चमकता रंग मुझे धुंधला धुंधला सा लगता। पेड़ अपरिचित से दीखते, पत्थर की कठोर चट्टान पर टकराता जल एक अजीब-सी अनुभूति जगाता।

चीड़ की जमीन पर बिखरी हुई सूखी पत्तियों पर, पीठ के बल लेटकर हवा के झोंकों के साथ नीचे तक झुकते चीड़ के पेड़ों की चोटियों की ओर विचित्र-सी जिज्ञासा से देखता रहता।

एक साथ तुम्हारे कितने ही चेहरे उभरने लगते थे तब ! रंगीन, रंगहीन बादलों में रंग बदलती बर्फीली चोटियों में, दूर दूर तक फैले नीले नीले पहाड़ों के धुंधलके में—घिरते अंधियारे में

शापग्रस्त यक्ष की तरह अपने को मैं कितना अवश और असहाय अनुभव करने लगता था तब।

मुझे लगता था, अपनी इन अन्तहीन यातनाओं का कारण मैं नहीं कोई और है। उस 'और' में न तुम शामिल थीं और न सुहास ही। कभी-कभी महसूस होता, जैसे मेरी परिस्थितियां मेरे संस्कार ही इस सबके लिए दोषी हों। इसलिए तुम पर मेरा आक्रोश कभी भी देर तक टिक न पाया था।

तुम वही तो कर रही थीं, जो तुम्हें करना चाहिए था। मैंने ही तुम्हें गलत समझा तो फिर दोष किसे देता !

उस दिन रविवार था न ? सुहेल के साथ 'लैण्ड्स-एण्ड' गया था।

सुहेल के गले में माला की तरह दूरबीन लटक रही थी। पहाड़ के अन्तिम सिरे पर, जहां धरती की सीमा रेखा टूटती हुई-सी लगती, के मोटे-मोटे पाइप लगे थे—घुटने-घुटने ऊंचे सीमेंट के खम्भों के सहा सड़क यहां पर समाप्त हो जाती थी न ! इसलिए नीचे खाई में झां पर भय-सा लगता था।

पाइप का सहारा लेकर मैं खड़ा था। खुरपाताल की झील कित छोटी लग रही थी—पिचकी हुई थाली-जैसी ! सुहेल ने दूरबीन म और बढ़ा दी तो आंखों पर लगाकर मैं दूरी कम करने का प्रयास रहा था। कुछ लोग पगडण्डी पर तेज-तेज कदमों से चल रहे थे, दूरि जैसे लगते थे। ढलान पर एक घोड़ा घास चर रहा था। उन्हीं के प घास पर दो रंगीन धब्बे से दिखलाई दे रहे थे। गोलाई में घुमाकर ज्य ज्यों लेंस ठीक कर रहा था, त्यों त्यों आकृतियां भी स्पष्ट उभरकर आ र थी।

एक आकृति सुहास की जैसी थी, वैसे ही बाल, उसी तरह के कपड़ दूसरी तुमसे कितनी मिलती-जुलती थी !

वह तुम कैसे होती, अनुमेहा ! तुम तो पटवाडांगर गयी थी, अपन जिज्जी से मिलने !

कभी-कभी कितना खूबसूरत भ्रम होता है ! मैंने झट गर्दन दूसर ओर घुमा ली थी।

"अंकल कह रहे थे, क्या मुझे छुट्टियों में बरेली तक नहीं छोड़ देंगे ? वह से आप टनकपुर के रास्ते अपने घर चले जायेंगे !'

सब बसें सीधे बरेली तक नहीं जाती थीं। काठगोदाम से ट्रेन पकड़नी पड़ती थी न !

" "

"आपको अपना घर दिखलाऊंगी। अपनी छोटी छोटी गुड़िए— जिनके साथ मैं बचपन में खेला करती थी, वे अब तक मैंने सहेजकर रखी है। इत्ती सुन्दर, आर्टिस्टिक कि आप देखते ही दंग रह जायेंगे।'

" "

"मम्मी आपको बहुत अच्छा मानेंगी। आपके बारे मे मैंने उन्हें सब कुछ बतला दिया है कि आप मुझे कितनी मेहनत से पढ़ाते हैं! आपका स्वभाव कितना अच्छा है! नैनीताल की झील में आप आर-पार तैर लेते हैं! आप वहां के रहने वाले हैं, दिन-दहाड़े जहां बड़े-बड़े शेर घूमते-फिरते हैं ।" कहती कहती अपने आप तुम हसने लगी थी।

" "

'आप कुछ नही बोलेंगे !"

" "

"आप अब कोई भी बात क्यो नहीं करते? मेरे किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देते? क्या नाराज हैं?"

इस बार भी मैं चुप रहा तो तुम्हारा चेहरा रुआंसा हो आया। कितनी कातर दृष्टि से तुम मेरी ओर देखने लगी थी!

"अब यहां अधिक नहीं रह सकता, अनुमेहा।" मैं जैसे शून्य में बातें कर रहा था, "कल यहां से चला जाऊंगा, और फिर कभी भी लौटकर नहीं आऊंगा !" मैं कह ही रहा था कि तुम चीख-सी पड़ी थी सहसा, 'क्यो, क्यो? क्या ऐक्जाम नहीं देंगे ?"

'मेरा मन नहीं लगता। पढ़कर भी क्या करूंगा?"

'ऐसा क्यो कहते हैं?" अपने अधरो पर अगुली टिकाकर तुम मेरी ओर देख रही थी।

'हर बात का कोई कारण ही हो, यह जरूरी है?"

'यह आप क्या कह रहे हैं? बिना कारण के भी क्या कभी कोई बात होती है ?" तुम्हारे होठ स्वय फड़कने लगे थे, "ऐसा न कहिए—बिल्कुल नही। मुझे पढ़ाना पसन्द नही करते तो न पढ़ाइए। यहां आना अच्छा नहीं लगता तो न आइए, पर यहां से जाइएगा नहीं! सच सच !" अपने दांतो के बीच निचला होंठ दबाकर तुम फूट पड़ी थी, "भगवान के लिए—ऐसा न कहिए !"

मेरे कंधे पर सिर टिकाकर देर तक तुम सिसकती रही थी और हतप्रभ-सा मैं लौट आया था होस्टल में।

मेरे कारण तुम्हें कोई कष्ट हो, यह कैसे हो सकता था!

बंधा हुआ सामान मैंने फिर बिखेर दिया था।

सोचा था इस बार मेडिकल-सर्टिफिकेट देकर छुटकारा मिल जाएगा। फाइनल तक क्या होना है, किसने देखा!

पुस्तकें खोलकर फिर से पढ़ने बैठा कि सामने तुम खड़ी हो गयी। पुस्तकें बंद की तो फिर तुम्हारी आकृति!

कमरे से बाहर निकलकर मैं टहलने-सा लगा था। रात की रानी कितनी महक रही थी! सब अपने अपने कमरों में कैद, पढ़ने में जुटे हुए थे, केवल सुहेल के कमरे से ठहाकों के स्वर गूंज रहे थे।

विकास चाय के खोखे से लौटता हुआ मुझे भी खींचकर अन्दर ले गया।

अपने नए खींचे चित्रों को रस ले-लेकर सुहास सबको दिखला रहा था। अधिकांश तस्वीरें तुम्हारी थीं—झील के किनारे नाव पर, लड़ियाकाटा लैण्ड्स एण्ड! बिखरे हुए बाल, उड़ता हुआ आंचल हंसती हुई तुम्हारी आकृति में पता नहीं मैं क्या खोजने लगा था!

उस क्षण एक अजीब सी स्थिति से गुजर रहा था मैं!

सुहास तुम्हारे बारे में बोल रहा था, अजीब-अजीब से किस्से गढ़कर! तुम्हारे लिए ज्यों ही कोई अश्लील सा गंदा शब्द उसने इस्तमाल किया, पता नहीं क्या हुआ मुझे! मेरे सारे शरीर में आग की लकीर-सी गुजर गयी! आंखों के आगे अंधेरा! तड़ से एक चांटा उसके गाल पर लगा कि वह जमीन पर लुढ़क पड़ा था।

उसके मुंह से तमाम बदबू-सी आ रही थी, शायद उसने आज फिर पी रखी थी! फिर भी मुझसे अकस्मात् यह क्या हो पड़ा, मुझे सूझ नहीं रहा था। सुहेल उसे उठा रहा था कि मैं हांफता हुआ अपने कमरे में लौट आया था। उस सारी रात मैं सो न पाया। एक अजीब-से झंझावात से जूझता रहा।

सुबह पौ फटने से पहले अपना सामान समेटकर मैं घर के लिए निकल पड़ा था।

'हं हो विरू क्या तू बिना परीक्षा दिए ही चला आया?" पिताजी ने

"अपने पिताजी से न कहना। ये मेरे कुछ गहने पड़े हैं, तू ले जा और पढ़ !"

अम्मा की बात का कोई भी उत्तर न देकर मैं चुपचाप दूसरे कमरे में चला गया था।

"पढ़ने मे मन नहीं लगता तो घर का ही कुछ काम-काज कर।" पिता कह रहे थे, "इतनी पुरोहिताई है ! खेती-बाड़ी है ! शादी का वचन देकर झूठा पड़ गया था तब। अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। लड़की अच्छी है। पिता जगल के ठेकेदार ! तेरी मां की इच्छा भी पूरी हो जाएगी—मरने से पहले बहू को देख लेगी !"

पिताजी का स्वर लड़खड़ा आया था।

पर इस बार भी मैं चुप था—हमेशा की तरह।

मेरा मन इतनी दूर रहकर भी कभी झील के किनारे भटकता, कभी गुरखा लाइन्स का होस्टल दीखता और कभी 'ब्लू-कॉटेज' की परिधि मे बैठी तुम। तुम्हारे झबरैले कुत्ते का स्वर साफ सुनाई देता। बस्ती से दूर किसी पत्थर पर बैठा हिमालय की चोटियो की ओर देखता या आसमान मे बिखरे बादलों को, तो तभी बस के चलने का सा स्वर सुनाई पड़ता। मुझे लगता, पता नहीं कब से चील चक्कर के मोड पर बैठा हू, किसी बस के गुजरने की प्रतीक्षा मे, जो अब कभी भी नही आएगी।

स्वय ही अपने ठंडे हाथों से, कभी ठंडे कोट की आस्तीन छूता तो सामने तुम खड़ी हो जाती—आपके कपड़े कितने ठंडे हैं, पानी की तरह !

हर रोज मुझे कभी न आने वाले पत्र की प्रतीक्षा रहती—यह जानते हुए भी कि तुम कभी भी मुझे कोई पत्र नहीं भेजोगी—सुबह होते ही मैं डाकखाने क्यों चला जाता था !

रीते हाथ लौटता तो लगता, आज न सही, कल तो अवश्य ही आयेगा

अपने को छलना सच, कितना कठिन होता है !

जब सांझ घिरती, मैं घड़ी देखता—अब तुम्हारे पढ़ने का समय होगा। छोटी-सी गोल मेज पर किताबें बिखेरकर तुम अकेली पढ़ रही होगी

सुबह तुम परीक्षा के लिए आ रही होगी कभी-कभी सुहास मिलता होगा मल्लीताल से तल्लीताल—एक पूरी परिक्रमा सुहास ने जो चित्र खींचे थे, क्या वे गलत थे ? नहीं-नहीं तुम उसके साथ घूमने न आती तो वह चित्र कैसे खींचता ? तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध वह कैसे तुम्हें ले आता फिर इतना बड़ा छल किसलिए किया तुमने !

15

पिताजी प्रतिदिन प्रातः वसन्त को 'राम रामौ रामा' पढ़ाने लगते तो मैं वहां से उठ जाता। एक दिन बरामदे में उसे बिठलाकर संस्कृत का कोई श्लोक रटा रहे थे, कि मैं अपने को रोक न पाया, "इसे आप आखिर क्या बनाना चाहते हैं ? इस ग्रंथ को रटाकर जिन्दगी में इस बेचारे को क्या मिल पायेगा ?"

"यह क्या कह रहे हो ?" पिताजी को अपने कानों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था, "धर्म-ग्रंथ पढ़ाना पाप है ?"

"पाप है या पुण्य यह मैं नहीं कह रहा। मैं तो एक ही बात कह रहा हूं, इन्हें पढ़कर यह कहीं का भी न रहेगा—न घर का, न घाट का !"

पिताजी सहसा उत्तेजित हो उठे थे, "थोड़ी-सी टिट बिट अंग्रेजी पढ़कर तू समझता है, सबज्ञाता हो गया ! अपने ग्रंथों का अपमान करते लाज नहीं आती !"

"मैंने ग्रंथों का अपमान कहां किया ?" मैं बिना किसी उत्तेजना के सहजभाव से बोल रहा था, "मैं इतना ही कह रहा हूं कि जो संस्कार आदमी को ऊपर उठने नहीं देते, उन्हें तिलांजलि दे देनी चाहिए। इतना कुछ रटाकर आपने मुझे क्या दिया ?"

पिताजी की आंखों से सचमुच अंगारे बरस रहे थे, "यह तू कह रहा है, विराग !"

"हां !" मैंने उसी स्वर में उत्तर दिया, "आपका यह अधूरा धर्म, अधूरा अध्यात्म, अधूरा ज्ञान किसी को किसी भी मंजिल तक नहीं ले

जायेगा। जीवन भर इस राह पर चलने पर भी आदमी अत तक अधूरा ही रहेगा। आत्म प्रवचना से बडा भी क्या कोई पाप होता है !"

पिताजी यह सब सुनने के लिए शायद कतई तैयार न थे। पीले चदन के लेप की मोटी-मोटी रेखाओ से घिरे उनके वृद्ध माथे पर कितने ही बल पड रहे थे। आवेश म सारा शरीर कितना काप रहा था, धर्म को अधर्म कह रहा है ? पुण्य को पाप ? तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी, विराग !" शाप देने की तरह उन्होने अपनी तर्जनी हवा म हिलाई, "भगवान तुझे सद्-विचार दें !" किताबें पटककर वह दूसरे कमरे मे चले गए।

पिताजी के आगे मैंने आज तक कभी जुबान खोली न थी। उनके हर वाक्य को ब्रह्मवाक्य मानकर स्वीकार करता चला आ रहा था, फिर आज यह

मुझे ससार निस्सार लगने लगा था। अपने से ही एक तरह की घृणा सी हो गयी थी। बचपन से ही किसी सस्कृत पाठशाला म भेज दिया होता तो आज यह सब नही सोचता। दूसरा मार्ग सुहास बन जाने का भी था—जहां कोई दुविधा, कोई असमजस, कोई मानसिक सताप नहीं !

जीने का तीसरा कोई मार्ग मुझे सूझ न रहा था। न सत बनना मेरी नियति लगती थी न शुद्ध सांसारिक ही !

तीन दिन स लगातार बर्फ गिर रही थी। चारो ओर जहां तक दृष्टि जाती, हिम ही हिम। पेड पौधे घरो की छतें—सारी धरती एकदम सफेद हो आयी थी। लोग कहते, ऐसी कडाके की सर्दी पिछले चालीस-पचास सालो मे शायद ही पहले कभी पडी हो !

लकडी की सीकोवाली छोटी सी खिडकी खोलकर बाहर का दृश्य देख रहा था।

आसमान से बर्फ कैसे गिरती होगी ? बर्फ के कण हवा मे उडते हुए कैसे दिखलाई देते होगे ? उस समय कैसा लगता होगा ? लोग बर्फ से ढकी सडकों पर कैसे चल पाते होंगे ?—याद है तुम अकसर कहा करती थी !

बर्फ के कुछ फाहे हवा मे उड-उडकर खिडकी के भीतर तक चले आ रहे थे। हिम के नन्हे-नन्हे शुभ्र कण गोबर मिट्टी से लिपे हुए खिडकी के

निचले हिस्से पर दिखरकर धीरे धीरे जल की बेडौल बूदो की शकल मे परिवर्तित हो रहे थे। अपनी अगुली की नोक से, एक बूद को दूसरी बूद स जोडकर मैं अकारण कई आकृतिया बना बिगाड रहा था।

देर बाद ध्यान आया मेरी अगुलिया आकृतिया नहीं बना रही थी, अनायास तुम्हारा नाम लिख रही थी—मेहा !

तुम नैनीताल नहीं-नही, अब बरेली पहुच चुकी होगी शायद सुहास छाडने गया हो या अपनी आटी के साथ वहा बर्फ नहीं गिरती न इसलिए खिली खिली धूप होगी कैसा होगा तुम्हारा घर ? उस क्षण मेरी कल्पना म एक सुदर सी इमारत उभर आयी थी—एक सजा हुआ छोटा सा कमरा—यह कमरा तुम्हारा, केवल तुम्हारा होगा न। अलमारी मे तरह-तरह की सजी गुडिए रैक पर किताबें कापिया—मेज पर वैसे ही पुस्तको के साथ रबर पेंसिलें, आडी तिरछी बिखरी पडी होगी अपने ही मे भूली, तुम कितना खुश होगी कभी पिकनिक, कभी पिक्चर कभी एक बार भी भूलकर तुमने याद न किया होगा न याद करने का तुम्हें समय ही कहां मिल पाता होगा

तुम्हारा हसता हुआ चेहरा, अधमुदी आंखें दिखलाई दी मुझे। उनम उभरते असख्य सुनहरे सपने !

सुनहरे सपने तुम ही नही दुनिया देखना चाहती है पर मेरे पास रेत के अलावा क्या था, कुछ नही, कुछ भी तो नही।

तभी हमेशा स्थितप्रज्ञ की सी स्थिति म रहने वाले पिताजी तेजी मे कमरे मे आये, 'अरे तू यहा बैठा है विराग तेरी अम्मा तो ।' उनका स्वर टूट आया। उससे अधिक वह कुछ बाल न पाये।

पिताजी के उखड उखडे स्वर तथा घबराई आकृति से पल भर मे मैं सारी वस्तुस्थिति समझ गया था। लपककर अम्मा के कमरे मे पहुचा तो वहां वसत सिसक रहा था। अम्मा की मुदती हुई पथराई आखो म कितना कुछ नहीं तैर रहा था ! अपने सूखे जजर हाथो स मेरे सिर को सहलाती हुई वह कुछ कहना चाह रही थीं, पर कह नहीं पा रही थीं।

ओह कितनी छटपटाहट ! मुझसे देखी नही जा रही थी। तभी एक दो हिचकियों के बाद उनकी कमजोर गदन तकिए पर एक ओर लुढ़क

पड़ी थी—निढाल।

सच, अम्मा मर गयी थीं, पर मेरी आंखों में एक भी आंसू नहीं था! केवल तटस्थ दृष्टि से मैं यह सब कुछ घटित होता देख रहा था। वसंत दहाड़ मारकर रो पड़ा तो पास-पड़ोस के सब भागे भागे आए।

किन्तु अब तक भी मैं प्रस्तरवत चुप खड़ा था। मुझे सच नहीं लग रहा था, अम्मा चली गयीं।

शाम को श्मशान से लौटे तो मैं कितना थका-थका-सा अनुभव कर रहा था! अम्मा को चिता पर रखते समय भी मेरी आंखों से आंसू न निकल पाये थे। कितना जड़ हो गया था मैं—एकदम चेतनाशून्य!

घर आकर देखा—आले पर तुम्हारा पत्र पड़ा है। 'पत्र नहीं दोगे क्या?' केवल ये ही चार शब्द लिखे थे तुमने! उन्हें पढ़ते ही पता नहीं सहसा क्या हुआ, जैसे वर्षों से रुका बांध एकाएक टूटकर बह निकला हो!

सचमुच मैं फफक-फफककर रो रहा था। उस सारी रात रोता रहा! अम्मा के जाते ही घर कितना सूना-सूना हो गया था! अंधेरे कमरे काटने को दौड़ते। पिताजी अब और अधिक समय तक पूजा-पाठ में लीन रहने लगे, एकदम वीतरागी संन्यासी—जैसे!

विराग, तू कब जा रहा है? छुट्टियां तो कब की खतम भी हो चुकी होंगी?' पता नहीं क्या सोचकर एक दिन उन्होंने कहा।

मैं कोई उत्तर न दे पाया।

"यहां का काम काज तू देख नहीं पायेगा। इससे अच्छा है, अपनी पढ़ाई ही पूरी कर ले।"

"पढ़ने से भी क्या बनेगा?"

'न पढ़ने से ही क्या कुछ हो जाएगा, पगले!" उनका स्वर थका थका सा था—बुझा हुआ, 'अधिक सोचते रहने से कुछ होता नहीं। जब जैसी स्थिति हो उसी के अनुरूप आचरण करना चाहिए। मेरी अब कोई इच्छा-आकांक्षा नहीं। तुम कभी दो आख वाले बन गए तो शायद वसंत का जीवन भी सुधर जाये!"

"इस उमर में आपको कष्ट दूं। भार बनूं। खर्च न हो इसके बावजूद पढ़ूं, यह सब अच्छा नहीं लगता। अपने मन में कहीं बड़ा बोझ-सा

अनुभव करता हूं ।" मैं कह ही रहा था कि वह बोल पड़े, "खर्च से तुम्हें क्या ? कभी कोई कमी महसूस हुई तुम्हें ? यह जमीन-जायदाद इसीलिए तो होती है न कि कभी वक्त पर काम आए ! जीवन में तुम कुछ करने योग्य बन गए तो इससे बड़ी उपलब्धि और क्या होगी ? गीता में भी भगवान ने कहा है ।" उन्होंने संस्कृत का कोई श्लोक दुहरा दिया था।

जाने के दिन सुबह से ही वह मेरा सामान तैयार करने में जुट गए थे । अम्मा की तरह हर बात के लिए बार-बार पूछ रहे थे। जाते समय गांव की सरहद से दूर तक छोड़ने आए थे, "बस दो-चार साल और जी जाता तो !" पिताजी का गला भर आया था, "तू ही सबसे बड़ा है बिरा, सोच-समझकर चलना । जो कुछ भी पितरों की जमीन-जायदाद थी, सब तुम पर लगा दी । अब और कुछ भी नहीं बचा मेरे पास !" मन नहीं कर रहा था जाने के लिए, फिर भी जा रहा था—मेरे पांव स्वचालित यंत्र की तरह अपने आप आगे बढ़ रहे थे ।

कॉलिज खुल चुके थे ।

तुम्हारा उदास चेहरा, बिखरे बादलों में बुझा-बुझा-सा फिर आंखों के सामने तैरने लगा था । दो दिन का थकाने वाला सफ़र कितना लम्बा लग रहा था ! खतम ही होने को न आ रहा था ।

कॉलिज कब खुला होगा ? तुम्हें आए कितने दिन हुए होंगे ? मेरे न आने पर तुमने क्या सोचा होगा ? नहीं-नहीं, तुमने कुछ भी नहीं सोचा होगा । कौन किसे

जाते ही कमरा बदल लूंगा अब—मैंने मन में कहीं तय कर लिया था । सुहास के साथ उस दिन जो हादसा हुआ, उसके बाद उसके साथ रहने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था । आवेश में जो कुछ कर बैठा था, उससे अब तक उबर न पाया था ।

मैं सोच रहा था, वह अब मुझसे बोलेगा नहीं, बातें नहीं करेगा, बल्कि एक तरह की शत्रुता रखेगा । इसलिए तुम्हें ट्यूशन पढ़ाने जाने का सवाल ही शेष न रहा था । तुम्हारे अंकल उसके पिता के अभिन्न मित्र थे । उन्हीं के माध्यम से तो मैं

खैर, मैंने इस चिन्ता से भी अपने को किसी हद तक मुक्त कर लिया

था। पिताजी ने कुछ और खेत रहन रख दिए थे। मेरे गिरते स्वास्थ्य को देखकर खर्चे की राशि कुछ और बढ़ा दी थी। होस्टल मे न भी रह पाया तो कहीं किसी के साथ सस्ते मे छोटी-सी कोठरी ले लूगा। खाना खुद बना लूगा। खुद कपड़े धो लूगा

किन्तु इस सबके विपरीत मेरे पहुचते ही सुहास मुझसे लिपट पड़ा था, "इत्ती देर क्यो कर दी, गुरु !" सहसा फिर मेरे सिर को देखकर सहज ही चौंका, ' घर मे तो सब ठीक हैं न ?"

"हा।"

"फिर ?"

"अम्मा चली गयीं !" मैंने कहा तो वह सहसा बहुत गम्भीर हो उठा, "बीमार थीं क्या ?"

"हां लम्बे अर्से से।"

"इलाज विलाज ?"

"करवाया, पर कुछ बना नही।"

मेरी पुस्तकें, मेरा सामान अपने सामान के साथ उसने इतने करीने से कमरे में सजा रखा था कि मुझे सहज ही आश्चर्य हुआ।

शाम को मेरे कुछ कहने से पहले ही वह बोल उठा, 'गुरु, आपका अहसान जीवन भर नही भूलूगा। सच आपने आवेश मे उस दिन जो 'वरदहस्त' रखा, उसके बाद से मैंने पीना ही छोड़ दिया है।' चेहरे पर गम्भीरता के बावजूद वह अपनी उन्मुक्त हसी रोक न पाया था।

' अनुमेहा के लिए ऐसे अभद्र शब्द मुझे नही कहने चाहिए थे। सचमुच वह बहुत अच्छी है। आपकी सौगन्ध खाकर कहता हू, ऐसी अच्छी लडकी मैंने जिन्दगी मे दूसरी नही देखी। कभी ध्यान दिया आपने, उसकी आखो मे कितनी निर्मलता है ! कितनी पवित्रता ! लगता है, बुरी निगाह से देखने मात्र से मैली हो जायेगी ! मुझसे एक दिन कहने लगी—शराबी-कबाबी-लफंगे मुझे अच्छे नहीं लगते। सच्च गुरु, तब से मुझमे न जाने ऐसा क्या परिवर्तन हुआ कि मैंने किसी को भी छेडा नहीं उसे छोडने बरेली गया, वहा उसके भाई ने पीने का कितना आग्रह किया, पर मुझसे छुई तक न गयी ।'

कुछ रुककर वह फिर बोला, "इतने दिनों तक आप आए नहीं न, मैंने सोचा, कहीं आपकी लगी-लगाई ट्यूशन न चली जाए, इसलिए मैं स्वयं पढ़ाने जा रहा था। अब कल से आप ही जाएंगे ।"

"नहीं, तुम पढ़ाओ। अब मेरा मन नहीं पढ़ाने में ।' मैंने कहा तो वह डपट पड़ा, "विप्र सुत, बीस रुपये महीने के क्या कुछ कम होते हैं ?" शायद मेरे चेहरे की गंभीरता ने इससे अधिक कहने से उसे सहसा रोक दिया था। तनिक धीमे स्वर में फिर बोला, 'आप तो सन्त हैं, गुरु ! दुनियादारी नहीं जानते ! कोई और होता तो इश्क भी लड़ाता और पैसे भी कमाता पर आप तो जन्मजात शुकदेव महाराज हैं न, पक्के बाल-ब्रह्मचारी ! कम-से-कम अपना फ़ायदा तो देखो ! साली बीस रुपए की ट्यूशन बड़े-बड़े टीचरों को भी नहीं मिल पाती, आज के जमाने में !'

"लेकिन, जब मन ही न हो तो ।' मैंने तनिक सोचते हुए, धीरे से वैसा ही वाक्य फिर दोहराया।

इस बार बड़े आश्चर्य से उसने देखा 'क्यों मन नहीं ? क्या किसी ने कुछ कहा ?"

"नहीं !"

"फिर ?"

मैं चुप हो गया था, किन्तु सुहास अपलक मेरी ओर देख रहा था, "तबीयत तो ठीक है न ?'

"हां !"

'फिर हो आना कल से। ज्यादा नहीं तो थोड़ी देर के लिए ही सही !"

उस समय अधिक बहस न कर मैं चुप हो गया था।

चौकीदार से कहकर उसने मेरे लिए ऊपर ही खाना मंगवा लिया था। अल्युमीनियम की अपनी टिफिन-कैरियर-जैसी गोल बाल्टी में से बर्फ की तरह जमा हुआ घी निकाला, 'गुरु, अब चिन्ता विन्ता छोड़ो। अपनी सेहत का ध्यान रखो। यह बाल्टी यहां खुली रखी है, जब जी चाहे, निकाल लिया करो !"

मेरे मना करने के बावजूद उसने चम्मच से ढेर सारा घी निकाल

डाला था।

लम्बे सफर से थका था। इसलिए जल्दी ही सो गया, पर वह मेरी रैक से 'गीता-रहस्य' निकालकर, रात को देर तक पढता रहा।

देवदार के घने वनो से ढका पहाड। चोटी पर सगमरमर का एक विशाल भवन—किलेनुमा। उसकी दीवारो पर जगह-जगह आले-से बने थे। एक एक आले मे एक-एक दीपक टिमटिमा रहा था। मैं देख रहा था—पूरब दिशा से काला तूफान आ रहा है। एक अजीब-सी डरावनी आवाज। तूफान और निकट आ गया था अब। एक एक कर सारे दीपक बुझ रहे थे और अब चारो ओर गहरा अधेरा था—धूल-ही-धूल। टिन की चादरें कागज के टुकडों की तरह आसमान मे उड रही थी। पेड टूट टूटकर गिर रहे थे। भवन की दीवार के सहारे मैं खडा था। पास ही कहीं से कराहने की-सी आवाज आ रही थी—बार-बार लगातार!

तभी पता नहीं कहां से दौडती हुई एक छाया-सी निकल गई थी—तुम्हारी जैसी। उस दिशा की ओर, जहां से कराहने का करुण स्वर आ रहा था।

अब मुझे सगमरमर की दो प्रस्तर प्रतिमाएं दिखलाई दे रही थी—खंडित! चूर-चूर!

उस समय मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब पत्थर की टूटी बाह से लहू गिरता दीखा था। वे बांहे मेरी अपनी बांहों से कितनी मिलती-जुलती थीं कि मैं चिल्ला पडा था।

मेरी पलकें खुल आयी थी। मैं पसीने से बुरी तरह नहाया हुआ था। मेरा बायां हाथ मेरे सीने पर पडा था। दम घुट-सा रहा था।

रजाई से मुंह बाहर निकालकर देखा—अभी अधेरा है। सुहास गहरी नींद सो रहा है। पर, अब मैं सो नहीं पाया।

बगल से गुजरती तुम्हारी छाया अब तक भी मुझे साफ़ दिखलाई दे रही थी और साफ़ सुनाई दे रही थी, वह कराहने की आवाज। मेरी बांहों में कितनी पीड़ा हो रही थी, जैसे टूटकर गिर पडी हों!

सचमुच दूसरे दिन कॉलिज में काठ की सीढ़ियों पर पांव रपट पडने

कारण मेरा बायां हाथ टूट पड़ा था।

अधविश्वासों पर मेरी आस्था नहीं। सपनों का विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टि से ही करता रहा, फिर यह सब क्या ? मैं स्वयं अचरज में था।

मुझे लगने लगा—कहीं तुम्हारा वह सपना भी सत्य घटित न हो पड़े!

आज सोचता हूं, जो कुछ हुआ वह सब सच नहीं था तो उसे झूठ की सज्ञा भी नहीं दी जा सकती न!

कास्पवेट-हॉस्पिटल के बाहर वाले कमरे मे तुम्हारे अंकल प्लास्टर चढ़ा रहे थे। सफ़ेद पट्टी-सी बांध रहे थे। सुहास मुझे सहारा दे रहा था—खिड़की के पीछे खड़ी डबडबाई आंखों से देखती तुम कुछ खोज रही थी

16

पतझड़ के बाद पेड़ों पर अब नयी-नयी कोंपलें उग रही थीं। धीरे धीरे हरियाली की हल्की झाईं, बर्फ़ों से लदे पहाड़ों पर उतर आयी थी। आबादी कुछ-कुछ बढ़ रही थी। लगता था, एक वीरान शहर फिर से आबाद होने की प्रक्रिया से गुजर रहा है।

समय के साथ-साथ कितना कुछ नहीं बदल गया था! डॉ० दत्ता की गम्भीरता कुछ और बढ़ आयी थी। श्रीमती दत्ता का अब अधिक समय भजन-कीर्तन में बीतने लगा था। किसी आश्रम के अधिष्ठाता स्वामीजी को वह इन दिनों दर्शनीय पर्वतीय स्थलों की सैर करा रही थीं। अब सात ताल में थीं।

सुहास होस्टल में कम, 'ब्लू-कॉटेज' में अधिक रहने लगा था। न चाहते हुए भी मैं अब तक तुम्हें नियमित रूप से पढ़ा रहा था। जब तक मेरे हाथ मे पट्टी बंधी रही, तुम्हारी पलकें उसी पर अटक आती थीं। तुम्हारी आंखों में तब कितनी घनीभूत पीड़ा उभर पड़ती थी!

तुम्हारा दर्द अपनी पीड़ा की अपेक्षा तब मेरे लिए कितना असह्य हो

आता था ! उसकी गहराई तक तुम शायद कभी भी न जा पायी थी ! तभी तो एक दिन तुम कह रही थी, "आप अब वह नहीं रहे, जो पहले थे कभी ! मुझे हर बार आपको देखकर यही लगता है, कि आप मात्र कर्त्तव्य पूरा करने के लिए यहां आते हैं। मुझे पढ़ाना आपको रचमात्र भी अच्छा नहीं लगता

तुम्हारे माथे पर हवा मे उड़ते बाल इस तरह गिरे कि अर्द्धचन्द्र-सा बन गया था।

"मैं सोचती थी, आपसे कितनी बातें करूंगी, पर आपको देखते ही सब भूल-भुला जाती हू। जब आप इम्तहान से पहले ही चले गए थे, तब मुझे कितनी बेचैनी हुई थी ! दिनों तक मैं पागलों की तरह अजीब-अजीब-सी हरकतें करने लगी थी। मुझे तब भी यही लगता था, और आज भी यही लग रहा है, कहीं आपकी इन परेशानियों का कारण मैं तो नहीं !"

बाहर से आए हवा के हल्के-से झोंके के कारण खादी के पर्दे पर एक लहर-सी खिंच गयी थी।

कहती कहती मेज पर तुम कितनी झुक गयी थी। अपने बाए हाथ की तर्जनी को ऊपर वाले दांत पर टिकाए तुम अपलक मेरी ओर देख रही थी।

'सुहास ने मेरी मदद न की होती तो सचमुच मैं पागल हो गई होती ! न मुझे नींद आती, न भूख लगती, न पढ़ने में ही मन लगता था। हर समय एक विचित्र-सी बेचैनी घेरे रहती। एक्जाम भी पता नहीं किस तरह दिए ! बरेली जाकर भी हर समय आपका ही खयाल आता रहा। पता नहीं तब किस झोंक में आकर आपको एक पत्र लिख दिया था। तब से हर रोज खिड़की पर बैठी डाकिए की राह देखा करती थी। शाम तक भी जब पत्र न आता तब मेरी परेशानी कितनी असह्य हो उठती थी ! छत पर अकेली बैठी, इमारतों के जगल के उस पार क्या-क्या नहीं खोजने लगती थी !" तुम्हारा स्वर कितना आर्द्र हो आया था ! तुम्हारे कांपते अधरों पर धुंधली धुंधली कितनी रेखाएं खिंच गयी थी ! चेहरा मेमने की तरह कितना मासूम नहीं-नहीं दयनीय-सा लग रहा था !

खिड़की का पल्ला थोड़ा सा खुला था—दरार की तरह। आज आठ

का कोना कुछ कुछ दूसरा ही रूप लिए था—एकदम फूलों से ढका ! कहीं कोई पत्ता नहीं ।

"जिस दिन आप नहीं आते, मैं इस पेड़ से बातें करने लगती हूं । पता नहीं क्या-क्या बोलती जाती हूं । इस सारी दुनिया में यह मुझे सबसे अधिक आत्मीय लगता है ।" तुमने मेरी ओर ताकते हुए कहा, "डॉक्टरों की भाषा में क्या यह एक तरह का पागलपन नहीं ?"

"कल सब्जी काटते-काटते यह अंगुली भी काट डाली थी !" पट्टी से बंधी अंगुली तुमने मेरी ओर बढ़ा दी थी ।

तुम्हारी नन्ही सी नाजुक पतली अंगुली कितनी कांप रही थी !

"कॉलेज जाते समय आज लेटर-बक्स में चिट्ठी के बदले अपना छोटा-सा बटुआ डाल दिया था । केवल आठ-दस आने की रेजगारी थी । अधिक होते तो कितनी परेशानी हो जाती !"

मुझे याद आया—इससे पहले भी एक दिन तुमने ऐसा ही कुछ कहा था । कितने प्रश्न एक साथ पूछ डाले थे ! पर मैं गूंगा-सा तुम्हारी ओर देखता रहा था ।

दिन प्रतिदिन मुझमें एक प्रकार की जड़ता-सी आती चली जा रही थी । वसन्त के पत्र आते पर मेरा मन उत्तर देने को न होता । आज-आज, कल-कल में टालते रहने के कारण वे वैसे ही पड़े रहते । पहले लिखता था—अम्मा परेशान हैं । अब लिखता है—पिताजी परेशान हैं । शेष बातें वैसी ही । कमरे में धूल जमी रहती, पुस्तकें यों ही फैली हुई । पढ़ने से ज्यों ही अवकाश मिलता, शीघ्र चलकर की तरफ एकान्त में निकल जाता और घंटों तक अकेला किसी पत्थर पर बैठा रहता । पुस्तकों से भी अब उतना अनुराग नहीं रह गया था । इधर कितने दिनों से मैंने धर्म तथा अध्यात्म से सम्बन्धित पुस्तकें जिन्हें रोज पहले गीता की तरह पढ़ा करता था, छुई तक नहीं । एक दिन रद्दी अखबारों के साथ उन्हें भी बेचने लगा तो सुहास ने चिल्लाकर कहा, 'यह क्या, गुरु ?" और वह झपटकर भीतर उठा ले गया था ।

सुहास के साथ तुम्हें कई बार हंसते-बोलते, पिक्चर जाते देखा था,

किन्तु मुझ पर जैसे कोई प्रतिक्रिया नहीं ! पहले का जैसा होता तो कितना परेशान रहता ! सारी-सारी रात जागता और इस बीच भला बुरा पता नहीं क्या-क्या सोच डालता ! पर अब सोचना ही एक तरह समाप्त हो गया था।

"आपको ऐसी गम्भीर मुद्रा मे खोये-खोये देखती हू तो डर सा लगने लगता है ।" तुम्हारे शब्द सुनकर मैं जैसे होश मे आया। नींद से जागने की तरह अचकचाता हुआ तुम्हारी ओर देखने लगा था।

मेरे दोनों हाथ हौले से पकड़कर तुमने अपनी ओर खीचे थे। अपनी हथेलियो के बीच दबाकर अपना तपता हुआ माथा टिका दिया था।

मेरी दोनो बन्द हथेलिया, जलती बूदो के गिरने से नहा आयी थीं। मैंने तुम्हारा मुह ऊपर उठाया तो वह आसुओ से भीगा था। आसू भरी रक्तिम आखो से तुम मेरी ओर देख रही थी। तुम्हारी आखें निरतर झर रही थी।

"अनुमेहा !"

अपनी दोनो हथेलियो में मुह छिपाकर सिसकती हुई तुम सहसा फट पडी थी, "इतना सताकर आपको क्या मिलेगा ? मुझे एक बार मार क्यों नहीं देते, अपने हाथों से अच्छी तरह ! अब मैं अधिक जी नही सकती जी-नही-सकती नहीं-न-हीं !"

तुम फूट फूटकर रोने लगी थी।

17

"विराग, तुम्हें आंटी याद कर रही थीं आज !"

"कौन ?"

"वही, अपनी जगत आंटी ।"

"श्रीमती दत्ता ?"

"हां।"

कुछ सोचते हुए मैंने माथे पर हाथ लगाया। फिर तनिक अचरज से

कहा, "वे क्यों याद करने लगीं मुझे ?'

"पता नहीं, कोई काम-वाम होगा।"

"क्या काम ?" मैं मुसकराया।

सुहास हँस पड़ा "हत्तेरे की ?" और फिर मेरी ओर तनिक गम्भीरता से देखता हुआ बोला 'हो भी आना, गुरु। वे भी आपकी देखा-देखी अध्यात्म की ओर अग्रसर हो रही हैं—साधु सन्तों के समागम मे ।"

पर मैं गया नहीं। जाकर करता भी क्या ? पिछले अनुभव इतने रहस्यमय थे कि जाने की इच्छा न हुई।

सच मुझे तुम्हारी आंटी ही नहीं, तुम भी मायावी लगने लगी थी, अनुमेहा ! सारा ससार ही मेरी समझ स परे होता चला जा रहा था। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप मेरी सहज बुद्धि मे अब तक नहीं आ पाया था। श्रीमती दत्ता को समझना इससे भी दुष्कर था। सुहास का शनै शनै एक और ही रूप निखरता चला आ रहा था। दिन रात वह पढ़ने मे लीन रहता। सारा 'अरविन्द साहित्य' उसने समाप्त कर दिया था। सिगरेट भी बहुत कम कर दी थी इधर। उसके स्वभाव में गरिमा के साथ साथ गाम्भीर्य भी आता चला जा रहा था। जिम्मेदार लोगों की तरह वह बातें किया करता। उसकी चचलता-चपलता न जाने कहाँ विलीन हो गयी थी !

'गुरु, देर से क्यों आते हैं आजकल ? क्या पढ़ने मे जी नहीं लगता ? अरे, इतनी जल्दी सो जायेंगे तो डिवीजन कैसे आ पायेगा ?" वह अक्सर कहा करता। उसके कहने में उलाहना होता। आत्मीयता भी।

उत्तर म मैं उसके चेहरे की ओर ताकने लगता—यह क्या कह रहा है ? किन्तु धीरे धीरे समझ मे आने लगा कि वह गलत नही कह रहा है। पिछली परीक्षाओ की अपेक्षा इस बार वह मुझसे भी अच्छे अको से उत्तीर्ण हुआ था।

सारे कॉलेज के लिए यह आठवां आश्चय था। खेलो मे भी उसने इस वर्ष दो नये रिकार्ड स्थापित कर दिये थे।

तुम्हारा रगीन-सा वह चित्र आज भी मेरी आँखों के आगे घूम रहा है जिसे उसने अपनी रैंक मे सबसे ऊपर सजाकर रख दिया था। उसके व्यक्तित्व में कहीं भी तो कोई दुराव न रहा था। 'गुरु, देखो, कितना

की तरह आप चुपचाप आते हैं और चले जाते हैं, ऐसा यह भी कोई बात हुई ! " अपने बहाव में बही चली आ रही थी वह, "आपकी भी अध्यात्म में रुचि है न ! आपकी देखा-देखी मैं भी इस रंग में कितना रम गयी हूं ! क्यों न अब हम दोनों मिलकर एक 'सत्संग-केन्द्र' खोलें, जिससे दुनिया का उपकार हो। आप हमारे ही कॉटेज में आ जाइए न ! समय का सदुपयोग हो जाएगा। आपके पढ़ने-पढ़ाने से जो समय बचेगा, वह हम इस अच्छे कार्य में लगा लेंगे। स्वामीजी से मैंने आपकी बड़ी प्रशंसा की है। वे आपसे प्रसन्न हैं। आपको दीक्षा भी देने के लिए तैयार हैं।"

वह कह रही थीं, मैं सुन रहा था, पर मेरा मन कहीं और भटक रहा था।

सीढ़ियां चढ़कर उनके कमरे में पहुंचा। यह वही कमरा था, जहां उन्होंने कभी चाय पिलायी थी। अचरज से मैं देख रहा था—श्रीमती दत्ता की तरह, उनके कमरे का रंग भी जोगिया-जोगिया-सा हो गया था। सामने वाली दीवार के सहारे विशाल आसन लगा था। उस पर विशालकाय स्वामी जी महाराज विराजमान थे।

उनकी ओर मैं सहज जिज्ञासा से देखता रहा—मोटे मोटे होंठ, लाल-लाल बड़ी आंखें, जिनसे स्नेह नहीं, करुणा भक्ति नहीं, उद्दाम वासना छलक रही थी। अर्द्धनग्न देह पर रुद्राक्ष की मोटी-मोटी मालाएं झूल रही थीं। माथे पर लाल चंदन ! भभूति !

श्रीमती दत्ता के सिर पर जिस स्नेह से उन्होंने हाथ रखा, वह मुझे सात्त्विक न लगा।

मुझे लगा—उनके चिड़ियाघर में अब यह एक नयी वृद्धि हुई है।

थोड़ी देर की बातचीत के बाद मैं उठकर बाहर निकल आया था। श्रीमती दत्ता भी साथ-साथ चल रही थीं, "आप सक्रिय सहयोग दें तो हमारी योजना सफल हो सकती है। जीवन नश्वर है—क्षणभंगुर। इस देह से मानव-समाज का जितना उपकार हो सके, अच्छा है। उसी में सार्थकता भी ।"

स्वामीजी का ही शायद यह कोई रटा-रटाया वाक्य था, जिसे वह बड़ी गुरु-गम्भीरता से दुहरा रही थीं।
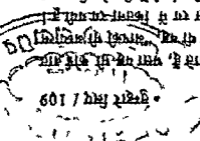
"फिर आपने क्या सोचा ?" उन्होंने मेरी ओर जिज्ञासा से देखा।

" "

"बतलाइये न !"

मैं तब भी चुप रहा। परन्तु उनके बार-बार आग्रह के बाद अंत में मुझे कहना पड़ा, "यदि सच बोलूं तो बुरा तो नहीं लगेगा ?"

"नहीं नहीं !"

किंचित् सोचते हुए मैंने कहा, "आपका यह अध्यात्म मुझे बहुत ढोंग लगता है। क्षमा कीजियेगा, इन सबसे मेरी अरुचि हो गयी है !"

"यह आप क्या कह रहे हैं, मास्टर जी ?" कितने विस्मय से कहा था उन्होंने।

'हां मैं सच कह रहा हूं। इस छद्म के सहारे आप अपने को कब तक छलती रहेंगी ?"

"आप होश मे तो हैं न ?"

"मैं होश मे नहीं हूं—आप कह सकती हैं ! यह भी कहने की आपको पूरी-पूरी छूट है कि मैं नॉमल नहीं, यानी एबनॉमल यानी पागल हो गया हूं। इसीलिए ऐसी बहकी-बहकी बातें करने लगा हूं !"

उन्होने मेरा हाथ पकड़ लिया, "आप सही स्थिति समझने का प्रयास क्यो नहीं करते ? मन की भटकन रोकने के लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया ? खरगोश, बिल्लियां पाली, पता नही क्या क्या शौक नहीं अपनाये, परन्तु मन की शान्ति कहीं मिलती नहीं। साधु-सन्तो के साथ भटकते रहने पर भी ! मैं क्या करूं ? इसके अतिरिक्त अब मुझे कही कोई मार्ग नहीं दीखता !"

सचमुच उनकी आंखें भर आयी थी।

तभी सीढ़ियो से चट चट आवाज सुनाई दी। किताबो का बस्ता अपनी छाती से लगाये, तीर की तरह तुम सामने से निकल गयी थीं—जैसे देखा ही न हो !

'मैंने आपसे प्रेरित होकर यह मार्ग चुना था !" उनके अधर कांप रहे थे 'पर पर !' अपनी बायीं कलाई की सोने की चूड़ियां वह अकारण घुमा रही थीं।

"सुनिये, मेरा अब इनसे विश्वास उठ गया है। मैंने सारी पुस्तकें फेंक दी हैं। आपका यह सारा धर्म मुझे अधर्म-सा लगने लगा है। वैसे अधर्म मे भी क्या धर्म नहीं ?" मैं कह ही रहा था कि वह सहसा बोल पड़ी, "नहीं, नहीं! ऐसा न कहिये। यह विरक्ति आपको कहीं पागल बना देगी !"

इनकी यह बात सुनकर सचमुच मैं पागलों की तरह मुह फाड़कर हसने लगा था, हसता चला जा रहा था निरतर! इतना अट्टहास करता हुआ कि श्रीमती दत्ता वास्तव मे घबराकर भाग खड़ी हुईं।

इसके बाद कई दिनों तक वह बाहर न निकलीं। उन्हें इतना आघात पहुचा कि कभी-कभी दौरे-से पड़ने लगे थे। स्वामीजी महाराज को उन्होंने प्रणाम करके विदा कर दिया था। गेरुवे वस्त्र भी त्याग दिये थे। दिन रात अपने कमरे मे पड़ी रहती—ध्यान की सी अर्द्धचेतन स्थिति मे।

विचित्र सी सशय की दशा म जो रहा था मैं! मेरा मन न जाने क्यों इतना विद्रोही हो गया था कि सही और गलत का भेद भी सही अर्थों मे स्वीकार नहीं कर पा रहा था। जिस ओर जान से आज तक अपने को रोक रहा था, मेरे पाव अब सयम की सीमा पार कर, उसी दिशा म निर्बन्ध बढ़ रहे थे। पता नहीं क्या हो गया था मुझे!

एक दिन मैं उनके कमरे मे सीधा चला गया। अचरज से उन्होंने देखा, "आप!"

"हां—मैं!"

"कैसे आये?"

"आपसे ही मिलने! आपने यह आवरण त्यागकर अच्छा किया है, बहुत अच्छा। आप कहती थीं न, जीवन जीने के लिए होता है—मुझे अब लगने लगा है कि आप कितना सच कहती थी! आवरण ओढ़ना पाप है, शेष सब सहज!"

ऐसा ही, ठीक यही आश्चर्य उनकी आखो में उस दिन भी था, जैसा आज झलक रहा था। वह घूरकर मेरी ओर देख रही थीं।

"आवरण ओढ़ना पाप है, यह सही है, पर आप आज यह कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं !"

"मैंने यही तो कहा न कि जीवन जीने के लिए होता है। मैं तो आपकी ही बातें दुहरा रहा हू !"

' आप यह कह क्या रह हैं ?" उन्होंने कितना झुझलाकर कहा था, पर दूसरी ओर मैं शान्त था, "मैं ठीक कह रहा हू, श्रीमती दत्ता ! नैतिकता-वैतिकता क्या होती है ? पर यों घूरकर क्या देख रही हैं आप ?"

"आपकी आखें कितनी डरावनी लग रही हैं, मास्टरजी ! लगता है, आपको किसी ने कोई नशेवाली चीज खिला दी है !"

"मैंने आज तक कोई नशा नहीं किया। वैसे जीवन स्वय मे क्या एक नशा नहीं, मिसेज दत्ता ! हा-हा-हा !" हसता हुआ मैं बाहर निकल आया था।

18

डॉक्टर दत्ता का तबादला मुरादाबाद हो गया था। बच्चो को नैनीताल छोड़कर, कुछ समय के लिए वह अकेले ही चले गये थे।

उनके साथ साथ मेरा ट्यूशन पढ़ाना भी बन्द हो गया था। जहां पहले तुम्हें न पढ़ाने की बातें किया करता था—तुमसे न मिलने की, वहां अब लगने लगा था कि तुम्हें देखे बिना शायद मैं जी भी न पाऊगा।

साझ होते ही मेरे पाव चाहे-अनचाहे, जान-अनजाने अनायास उस ओर बढ़ने लगते। 'ब्लू-कॉटेज' की एक परिक्रमा पूरी कर मैं हारे हुए जुआरी की तरह डेरे पर लौट आता।

तुमसे जितना स्नेह था, उतनी ही उपेक्षा-सी भी कही पनपने लगी थी अब स्नेह के साथ साथ। यह विरोधाभास मेरी समझ मे नहीं आ पा रहा था। जब तुम निकट से गुजरती तो मुह फेरकर चला जाता और जब पास न होती तो घटो तुम्हारे बारे म सोचता। आखें बद किए तुम्हारा ही चेहरा देखा करता ।

पाषाण देवी के पास तैरकर उस दिन 'गुरखा-लाइन्स' लौट रहे थे,

अपने छात्रावास। शायद छुट्टी का कोई दिन था। ग्यारह बारह बजे होगे। सूरज सिर पर कितना तेज चमक रहा था!

बस-स्टैंड पर उस दिन बडी भीड थी। तभी तुम्हारी एक झलक दिखलायी पडी थी। झील की तरह तार की जालीदार दीवार के पास रोडवेज की बस खडी थी—उसी की बायो ओर की खुली खिडकी पर झुकी तुम। तुम्हारा दूधिया चेहरा उस दिन हमेशा की तरह कितना उजला-उजला लग रहा था। बाल उड-उडकर खिडकी से बाहर आने के लिए मचल रहे थे। दुपट्टा बिखर रहा था। तुम न जाने कहा देख रही थी, खोयी हुई-सी!

सुहास टिकट खिडकी पर खडा था, कमर झुकाये।

तुम्हें देखते ही कितनी हलचल-सी मच गयी थी मन मे! आज कितने युगो बाद देखा था तुम्हे!

चौराहे के पास एक बार फिर मुडकर देखा तुम्हारी ओर। इस बार तुम नही, केवल तुम्हारी बस दिखलायी दी थी, जिसके माथे पर 'भीमताल' लिखा था।

भीमताल तुम क्यो जा रही हो? सुहास भी क्यों चल रहा है तुम्हारे साथ? आज सुबह तक भी उसने कोई जिक्र क्यो नहीं किया? तुमने मेरी ओर देखा ही नहीं, या देखकर भी अनदेखा कर दिया ?

होस्टल पहुचने तक ऐसे ही अनेक प्रश्नों से मैं घिरा रहा। पागल सा भटकता रहा सारा दिन—अपने से जूझता हुआ।

शाम को सुहेल के कमरे मे सब बैठे थे। जी बहलाने के लिए मैं भी चला गया था। 'जीवाणु' रस ले लेकर चुटकुले सुना रहा था—सुहास के कई पुराने किस्से, कि किस तरह वह 'नाइट शो' देखने निकल जाता था। रात को राउंड लेने के लिए वार्डन आता तो देखता सुहास सोया हुआ है। चौकीदार ने कई बार उसके भाग निकलने की शिकायत की, किन्तु वार्डन ने कुछ भी सुनने से इनकार कर दिया।

तभी एक बार रात को वार्डन लौट रहा था कि जूते बगल मे दबाये, बजरीवाली पगडंडी पर धीमे-धीमे कदम रखता हुआ सुहास आता दिखलाई दिया। वार्डन को आश्चर्य हुआ—अभी-अभी मैंने इसे कमरे मे

सोया हुआ देखा, फिर यह कहां से ?

सुहास ने चुपके से कमरा खोला तो उसी के साथ साथ पीछे से वार्डन भी कमरे म घुस गया था। सचमुच विस्तर पर उसे कोई सोया हुआ-सा लगा। रहस्यमय ढग से उसने लिहाफ हटाया तो सिरहान की जगह फुटबाल रखी थी, पांवो की जगह क्रिकेट के दो वल्ले ।

सब ठहाका लगाकर हस पडे थे।

इतने मे बाहर से सुहास आता दिखलाई दिया—थका थका-सा। उसे देखते ही हसी का एक फव्वारा फिर छूटा।

"बडी मौज हो रही है यार आजकल ?" सुहेल ने छेडा, "किसे घुमा लाये आज ? कहा कहां तक ?"

सुहास यो ही हस पडा, "ऐसे ही कुछ काम से भवाली चला गया था ।"

" समोसा' को घुमाने ?'

"नही-नही, कुछ और काम था जरूरी ।"

"हम 'काम' की ही तो बात कर रहे हैं यार, जरूरी काम की, जिसमे तुम प्रवीण हो !" 'जीवाणु' न दीवानसिंह की ओर देखकर, बायी आंख दबाते हुए चुटकी सी ली।

सुहास हस पडा। हसते-हसते बोला, डॉक्टर दत्ता के कोई रिश्तेदार सेनिटोरियम मे पडे हैं। उनकी खोज-खबर लेने गया था ।"

' अकेले तो तुम जा नही सकते। साथ मे कौन था ?" सुहेल ने शका प्रकट की।

'डाक्टर दत्ता की 'नीस' ?"

"अनुमेहा ?"

हा ।"

सब एक साथ हस पड़े, "यार, यहां घुमा घुमाकर चैन नहीं मिला क्या जो इतनी दूर ले गये बेचारी को। रोज ही तो एक-दो राउण्ड लगा लेते हो।' रॉबर्ट ने छेडा।

तुम्हारा प्रसग चला तो फिर चलता रहा देर तक। तभी मेरे मुह से तुम्हारे प्रति कोई अश्लील शब्द निकल पडा तो सुहास धक्-से रह गया।

पहले मेरी ओर घूरकर देखता रहा, फिर तनिक संयत होकर बोला, "चलो गुरु, अपने रूम मे चलते हैं। आप भी कुछ टायर्ड से क्यो लग रहे हैं !" उसने ऐसे कहा, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

मैंने दरवाज़ा खोला। कमरे में आते ही उसकी गम्भीरता कुछ बढ़ गयी थी। रोशनी जलाकर, चारपाई पर वह ठीक मेरे सामने बैठ गया और मेरी ओर देखता हुआ बोला, "आपके मुंह से ऐसे गंदे शब्द मैंने पहले कभी नहीं सुने थे, गुरु ! आपको आज क्या हो गया है ?"

मैं हंसने लगा, "अपनी-अपनी मरज़ी है, यार।" हवा मे हाथ उछालते हुए मैंने कहा तो मेरा पैन फ़र्श पर गिर पड़ा। सुहास ने झट से उसे उठाया और मुझे देने के लिए तनिक पास आया तो वह चीख सा पड़ा, 'यह क्या ? गुरु, आपने आज दारू पी है ?"

उसकी आंखें फैलकर कितनी बड़ी-बड़ी हो गयी थीं ! सारा शरीर झनझना रहा था।

"जब दुःख बहुत बढ़ जाता है न दोस्त, पीना अच्छा लगता है। तुम भी तो खूब खूब पिया करते थे कभी। याद है ।" मैं हंसने लगा था—अट्टहास करता हुआ।

मेरी ज़ुबान लड़खड़ा रही थी, फिर भी पूरा-पूरा होश था !

सुहास का चेहरा उस पल कैसा-कैसा हो आया था ! कितनी दया, कितनी करुणा, कितनी घृणा ।

यों ही मैं बिस्तर पर लुढ़क पड़ा था।

रात को दो ढाई बजे के करीब उठा तो देखा, मेरे जूते उतरे हुए हैं। कोट हेंगर पर टंगा है। बिस्तर पर मैं आराम से सो रहा हूं। कमरे की बत्ती जल रही है। सुहास अपने बिस्तर पर लेटा छत की ओर देखता हुआ, सिगरेट पी रहा है—पीता चला जा रहा है !

19

समय पंख लगाकर कितनी तेजी से उड़ रहा था ! इन दो-तीन ही सालों में कितना कुछ नहीं बदल गया था ! डाक्टर दत्ता ने भाग-दौड़ करके अपना तबादला फिर नैनीताल करवा लिया था। सुहास के पिताजी ने होस्टल से उठावाकर उसे डॉक्टर दत्ता के सरक्षण म 'ब्लू कॉटेज' भिजवा दिया था, ताकि अपने अध्ययन मे उसे अधिक सुविधा मिल सके। अब वह पढ़ाई के साथ-साथ कम्पीटीशनो की तैयारी मे भी जुट गया था।

आर्थिक स्थितियां धीरे धीरे गिर रही थीं। मेरे लिए आगे पढ़ना पहाड़-सा लग रहा था। इसलिए छात्रावास छोड़कर मैंने तल्लीताल स्थित 'ईगल होटल' के एक खाईनुमा, टूटे, अधेरे कमरे मे शरण ले ली थी। मेरे साथ मेरा सहपाठी परमा भी आ गया था।

मुश्किल से दो चारपाइयों की जगह होगी। उसी मे सोना, उसी में पढ़ना, उसी मे भोजन बनाना ! सूरज की किरणो से दूर, उस सीलनभरे कमरे मे ही मेरा सारा ससार सिमट आया था।

परमा जिस दिन अपने गांव से अत्तर ले आता, हम दोनों सुल्फई चढ़ाकर उस दिन पागलो की तरह हसने या रोने का दौर शुरू होता तो घटो तक रोते चले जाते।

किराया समय पर न चुकाने के कारण होटल का मालिक कम परेशान नहीं था, किन्तु अपना पेट काटकर, हम जो किराया उसे दे रहे थे, उसका लोभ उसे कुछ भी न कहने के लिए विवश कर देता। कभी-कभी वह स्वय भी हमारे साथ 'बम-बम भोले भोले' कहता हुआ, चिलम के निचले सिरे पर, बित्ते भर का निचोडा हुआ गीला कपडा लपेटकर, इतनी जोर से लम्बी सास खीचता कि चिलम की ऊपरी सतह पर सहसा आग की लपट सी उठ आती ! फिर ढेर सारा धुआ स्वाद लेता हुआ रुककर छोडता तो कमरा धुए से भर जाता।

परमानन्द उस दिन घर गया था, बहन की शादी मे। अकेला ही मैं अधेरे कमरे में पडा था मुर्दे की तरह। अत मे पडे-पडे भी ऊब गया तो

किवाड़ खोल लिए थे मैंने और बाहर की ओर देखने लगा था, खोयी-खोयी दृष्टि से !

बाहर सड़क की पीली बत्ती पर कितने पतंगे मंडरा रहे थे ! धुंध के उस पार, काली-धुंधली पहाड़ियों पर जुगनू की तरह कभी-कभी कोई प्रकाश बिन्दु चमकता और ओझल हो जाता। शायद कोई बस आ-जा रही हो !

मैं सहसा उठ खड़ा हुआ। कपड़े बदलकर बाहर निकला तो घुटन कुछ कम हुई।

लेक ब्रिज पर आज कितनी भीड़ थी ! उजली झील पर कई इन्द्र-धनुष तैर रहे थे। मुझे याद आया, आज फिर पूर्णिमा की रात थी। आज फिर वैसा ही ज्वार उमड़ रहा था। उसी तरह झील का निर्मल जल चन्द्र-प्रकाश मे दर्पण की तरह चमक रहा था।

'दर्शनघर' के आगे एक अकेली बेंच पर मैं बैठ गया था—संज्ञाहीन-सा ! पता नहीं कब तक बैठा रहा ! सड़कें जब सूनी सूनी हो गयीं, घरों की बत्तियां बुझने लगीं तो मुझे होश आया। मेरे पांव जल्दी-जल्दी लौटने लगे।

सीढ़ियां उतर ही रहा था कि अपने दरवाजे के आगे एक छाया-सी खड़ी दीखी—काली-काली !

"कौन ?" आश्चर्य से मेरे मुंह से निकल पड़ा।

छाया अपने स्थान पर तनिक हिली।

"मेहा, तुम ?" मेरे सूखे होंठ खुल आये, "अंधेरे में ! यहां !! इस समय ! ! !"

तुम अपलक मेरी ओर देख रही थी चुप। कितना कुछ नहीं था तुम्हारी आंखों मे कहने के लिए !

पत्थर की मूर्तियों की तरह न जाने कब तक हम एक-दूसरे के आमने-सामने, गूंगे-से खड़े रहे !

तभी सहसा तुम मुड़ी और धीमे धीमे कदम रखती हुई अंधेरी सीढ़ियों के उस पार कहीं ओझल हो गयी थी !

तुम्हारे चले जाने के बाद भी वैसा ही खड़ा रहा था, काठ-सा, पता

नहीं कब तक ? कब मैंने दरवाजा खोला, कब अन्दर गया—मुझे याद नहीं ।

उस रात मुझ लगता रहा, मैंने नशे मे यो ही कोई सपना देखा होगा ! तुम आती तो क्या बोलती नही, बातें नहो करती ? हां, यह सोचना तो मैं भूल ही गया था उस क्षण कि तुम आती ही क्यो, अनुमेहा ?

दूसरे दिन कॉलेज मे सुहास न बतलाया कि तुम आज प्रात बस से नैनीताल छोडकर चली गयी हो लखनऊ के लिए । अब वहीं रहोगी । वहीं पढोगी—कभी भी नैनीताल नही आओगी

20

"यह क्या कह रहे हो ?" आश्चर्य से मेरा मुह खुल आया ।

"हां-हां, ठीक कह रहा हू, गुरु !" सुहास उसी सहजता से बोला, "यहां उसका मन लग नही रहा था—पता नही क्यों ? दिन रात खोयी-खोयी सी रहती । पहले अकेली, अकारण घूमती रहती थी—कभी झील के किनारे किनारे तो कभी सूखाताल की कब्रों की तरफ निकल जाती पूर्णमासी की रात झील के निकट बैठ जाती, बडी मुश्किल से उसे घर लाता था इधर कुछ दिनो से उसने घूमना-फिरना बन्द कर दिया था अपनी पढ़ने की मेज पर बैठ जाती और खिडकी खोलकर बाहर ताकती रहती आडू के पेड के अलावा वहां से कुछ भी दिखलाई न देता था अकल किसी मनोरोग-विशेषज्ञ को दिखलाने की बात करते तो वह पागलो की तरह हस पड़ती थी परसो आंटी ने आडू का वह पेड भी कटवा दिया तो वह कितना-कितना रोयी थी !"

"क्यो कटवाया ?" मेरे होठो से टूट-टूटकर ये दो शब्द बिखर गये थे ।

"वहां गुलाब के पौधे लगवाने थे न ! आंटी को इधर बागबानी का नया शौक जागा है । 'चौबटिया गार्डन' से उन्होंने तरह तरह के पौधे मगवा लिये थे ! अपने 'चिड़ियाघर' की जगह भी उन्होंने क्यारियां बना ली हैं !"

थोड़ी देर तक दोनो चुप रहे।

तभी मुझे याद आया, "इस समय तो एडमीशन मिलना भी कठिन होगा न !"

"हां," उसे जैसे कुछ याद आया, "लेकिन प्राब्लम नहीं रहेगी शायद। यूनिवर्सिटी मे उसके कोई रिश्तेदार रजिस्ट्रार हैं। उसकी पटवाडागर वाली जीजी के पति भी अब लखनऊ चले गये हैं। सम्भवत उन्ही के कहने पर अनुमेहा वहां गयी हो ?"

मुझे सच नहीं लग रहा था—सच तुम चली गयी, मेहा ! मेरा मन आज किसी भी तरह, कुछ भी मानने को तयार न हो रहा था ! तुम्हारी अनुपस्थिति का इतना तीव्र अहसास अब क्यों हो रहा था ? जब भी कहीं जाता, मेरी सूनी-सूनी निगाहें कुछ खोजने-सी क्यो लगती थीं ? क्या ?

लेक ब्रिज के ऊपर, डाकखाने के आगे लगी रेलिंग पर बैठा रहता। आते जाते आदमियों को देखता रहता—कहीं तुम फिर लौटकर न आ गयी हो ! हो सकता है एडमीशन न मिला हो ! शाम का उन्ही रास्तो पर, उसी तरह घूमता, जिस तरह घूमता, जिस तरह तुम्हारे साथ कभी कभी चला आया करता था। उस दिन 'रॉक्सी' पर यो ही कोई पिक्चर देख आया था, उसी सीट पर बैठा, जिस पर उस दिन बैठा, जब हमने 'बाईसिकल थीफ़' देखी थी ! मुहास से मिलने के बहाने कितनी बार 'ब्लू-कॉटेज' गया था। वह कमरा कितनी बार देखा, दीवारें छू-छूकर, जिसमे तुम्हें पढ़ाया करता था। वह छोटी-सी गोल मेज अब तक वहां उसी तरह रखी थी। उसी तरह उसके आस-पास बेंत की दो कुर्सियां पड़ी थीं। उस स्थान को खोजता रहा, जहां बरसात मे आड़ू का छतरीनुमा नन्हा पेड़, भीगा-भीगा-सा खड़ा रहता था—सिर झुकाये। पूरे चांद की रात मे अकेला ही नाव लेकर निकल जाता। आसमान की ओर उठती, उन चमचमाती लहरो मे तुम्हारे हजारो प्रतिबिम्ब क्या नजर आते थे मुझे ?

मेरे लिए यह सब असह्य हो उठा था। इतना एकाकी मैंने अपने को कभी भी अनुभव नहीं किया था।

शाम को कभी-कभी 'चील चक्कर' के घुमावदार मोड़ा की तरफ़

निकल जाता। अँधियारे मे लौटते समय कोई जीप या कार बल्दियाखान की तरफ से आती दीखती तो मैं पता नही क्यो सडक के किनारे जिज्ञासा से देखता हुआ ठहर जाता। जब तक वह पास न आती, मेरी बगल से गुजरकर ओझल न हो जाती, मैं ठगा-ठगा सा खडा रहता।

मैं जानता था, तुम ऐसे इस तरह कैसे आ सकती हो? फिर भी मेरा पागल मन मानता न था न!

—आपके कपडे कितने ठडे हो गये हैं!

मैं स्वय अपने ठडे कपडो को सहलाता। सचमुच मुझे अपने कपड़े कितने ठड ठडे-से लगते!

अखबार म लखनऊ की खबर कोई होती, उसे बडी उत्सुकता से पढता। न जाने वह शहर अब मुझे क्यो इतना अच्छा लगने लगा था, जिसे मैंने कभी भी देखा न था, जिससे कभी भी मेरा किसी किस्म का सम्बन्ध न रहा था!

21

" कल सुहास आया था, किसी 'इटरव्यू' के सिलसिले मे। आपके बारे मे उसने जो बतलाया, सच नहीं लगा—किताबें बेच-बेचकर भी आप नशा करते हैं अवारा घूमते हैं कल्पनासिंह के साथ मैंने खुद देखा था आपको। आंटी से जिस दिन आप कह रहे थे—नैतिकता-वैतिकता कुछ नहीं होती, मैं दरवाजे के पास खडी सब सुन रही थी। जब शाम को आप उन्हें पाषाणदेवी की तरफ घुमाने ले जाने का आग्रह कर रहे थ— उस दिन आप से गयी थीं न मुझे आज मैं ले जाना चाहता हू आपको ' इससे अधिक मैं सुन न पायी थी। अपने कानों पर मैंने हाथ रख लिए थे आपका वह देवत्वभरा स्वरूप कहां चला गया अब? आपने कभी सोचा—इस तरह 'आत्महत्या' करके आप अपनी ही नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से कहीं किसी और की भी 'हत्या' तो नहीं कर रहे हैं? आपको इस दशा के लिए कहीं

मैं भी तो दोषी नहीं ! इतनी सजा, जो आप दे चुके हैं, क्या अभी पर्याप्त नहीं ? भगवान के लिए यह रास्ता छोड दें—आपको मेरी सौगंध ! यह मेरा अन्तिम पत्र है। अब कभी भी आपको नहीं लिखूंगी। आपसे मिलने की इतनी बडी सजा क्या जिन्दगीभर के लिए कम है !"

नीचे न तुम्हारे दस्तखत थे, न पता ही लिखा था।

बार-बार, हजार बार पढने के बाद भी मैं वह पत्र निरन्तर पढता चला जा रहा था। जब-जब पढता, आंसुओं में डूबा तुम्हारा चेहरा पलकों पर अनायास तैरने लगता।

"विराग, घर चल !" गांव से पिताजी आये थे, कह रहे थे, 'ये क्या हाल कर लिये तूने ? सोचता था, तुम पढ-लिख गये तो पर तुमने कहीं का भी तो नहीं रख छोडा हमें ! मरते समय मुंह दिखलाने लायक भी नहीं ब्राह्मण की औलाद होकर तुमने तुम्हीं मेरे पूर्व जन्म के कोई दुश्मन निकले या मेरे ही करम खोटे थे !" पिताजी का गला रुंध गया था। आंखें डबडबा आयी थीं और उनके सामने मैं पालथी मार, अपराधी की तरह बैठा था।

" किसी दिन तुम किसी लायक बन गये तो सोचता था अन्त समय में संन्यास लेकर हरिद्वार चला जाऊंगा। किसी आश्रम में भजन करूंगा, पर तुमने हमें घर में ही जोगी बना दिया। कोरी राख भी तो न बची अब !"

कहते कहते पिताजी मौन हो गये थे।

कुछ क्षण बाद सन्नाटा तोडते हुए फिर बोले, 'तो कल घर चलें ?' अपनी फटी हुई मैली धोती से उन्होंने आंखें पोंछीं।

"जैसा आप ठीक समझें "

सामान रात को ही बांध लें ! सुबह ठंडे-ठंडे में निकल चलेंगे। शाम को पहाडीपानी तक भी पहुंच गये तो बहुत है।'

अपने कांपते हुए बूढे हाथों से वह मेरी बची-खुची पुरानी पुस्तकें समेटने लगे थे, " 'गीता भाष्य', 'महाभारत', 'विष्णुपुराण' कितनी किताबें खरीदकर दी थीं तुझे, पर तूने एक भी न रख छोडी। यहां इस

'छोटी बिलायत' मे आकर तू कुछ 'पढ़-लिख' गया है न ! इसीलिए अब तुझे हमारा धर्म भी अधर्म लगता है । तेरा दोष नहीं, करम अपने ही काने निकले तो तू भी क्या करता ?"

सुबह सामान समेट ही रहे थे कि अपने गाँव से परमानन्द आ गया था, छुट्टियां समाप्त करके ।

"तुम्हारा ही इंतजार कर रहे थे ।" मैंने कहा तो वह कुछ न बोला—केवल टटोलती निगाहों से देखता रहा । शायद सब कुछ समझ चुका था ।

"बडबौज्यू, ऐस न करो हो ?" उसने पिताजी की ओर देखा, 'अब कुछ ही महीने की तो बात है ! फाइनल देकर आ जायेगा । इस समय उठाकर ले जाने से इसका सारा साल ही नही, सारी जिन्दगी बेकार हो जाएगी ।"

पिताजी हस पडे थे । कितनी वेदना थी उनकी हसी म, "अब जिन्दगी मे और बिगड़ने के लिए रह ही क्या गया है ? तू भी तो इसी का सगी-साथी है न, इसी का जैसा कहेगा !"

परमा ने फिर कुछ न कहा, न पिताजी ही कुछ बोले । गम्भीर भाव से बैठे रहे—ध्यान की सी स्थिति म !

अन्त मे जागत हुए बोले, "विरा, शायद यह ठीक कह रहा है । कुछ ही महीने की तो बात है । खूब मेहनत से परीक्षा दे । अभी भी सब सभल सकता है "

' नहीं-नहीं, यहां अब मेरा मन लगता नही । पढ़ने लिखने म भी नही । जाकर जो आप कहेंगे, करूगा । इस उमर मे भी आपको इतना कष्ट दे रहा हू !" मेरा स्वर लड़खड़ा आया था ।

पर, पिताजी माने नही । मेरा सारा सामान खोलकर उन्होंने फिर से सहेज दिया था । आने वाले दो-तीन महीने का खर्च दे गए थे । मैं उन्हें 'प्राइम्स' तक छोडने गया तो उन्होंने मेरी ओर पता नहीं किन निगाहों से देखा, "तेरी मां मरते समय कह गयी थी—हमारा विरा निरा निरा पगला है । उसे कष्ट न दना । उसकी बातें याद आती हैं तो फिर मुझे कुछ भी नहीं सूझता !"

अपनी खद्दर की बंडी की भीतरी जेब से उन्होंने एक थैली-सी

भी बिकने लगा, मैं पूरा पागल हो गया था। आवेश मे मैंने अपने तन से कपडे फाड दिए थे। मन करता था—मशाल लेकर सारा ससार जला दू।

रात को आग के पास पिताजी बैठे थे। वसन्त बैठा था। मैं बैठा था। मुझे लग रहा था, यह सब मेरे ही कारण हुआ है।

सुबह पिताजी कधे पर धोती रखकर बाहर जाने लगे तो मैंने टोका, "आज से आप भीख मागने नही जाएगे !"

पिताजी विस्मय से मेरा मुह ताकने लगे, "पुरोहिताई क्या भीख मागना है ?"

"भीख मागना ही नही, भीख मागने स भी बदतर है।"

वह हस पडे।

"जीवन भर इतने सघष करते रहे, अन्त म आपको क्या मिला ?" मैंन कहा तो वह उसी तरह देखते रह "क्या मिला, इसका हिसाब लगाने की वणिकवृत्ति मेरी कभी कभी नहीं रही, विरा ! मुझे तो लगता है कि मुझे क्या नही मिला ? प्रभु न सब कुछ दिया है। तेरी मा मेरे आगे चली गई, कम भाग्यवान थी क्या ? मैं मैं जिसके दो पुत्र रत्न हों, उससे भाग्यवान और कौन होगा ?" आसमान की तरफ पिताजी के हाथ जुडे थे और आखें झर रही थीं।

मैंने उनके कापते हुए कधो पर रखी, फटी हुई मैली धोती उठा ली और सामन पडी दरी पर उन्हें बिठला दिया, 'आज स आप बाहर नहीं जाएगे ! मैं काम करूगा काई भी काम—किसी भी किस्म की मेहनत-मजदूरी ! वह न मिली तो खुल आम चोरी करूगा। डाका डालूगा, लेकिन आपको भीख नही मागने दूगा वसन्त भी अब घर मे निठल्ला नहीं बैठेगा। पाठशाला में पढेगा—मैं पढाऊगा उसे ! मैं !"

पिताजी का चेहरा कैसा हो आया था उस क्षण ! हसते हुए भी वे रो-से रहे थे। हापते हुए बोले, तू होश मे नही विरा ! इतनी-सी परेशानी म विचलित हो गया, र ! मनुष्य किसी भी स्थिति म भ्रमित न हो यही तो सच्चा ज्ञान है। 'सुख-दुखे समी कृत्वा !' इतने मे खासी का ऐसा दौर शुरू हुआ कि वह खासते-खासते दुहरे हो गए।

गांव मे क्या मिलता भला! जगल मे इमारती लकडिया कट रही थी। चीड के वनो मे लीसे के कनस्तर भरे जा रहे थे। मैं उन्हे ढोने के काम म लग गया।

दुनिया मे जो काम और कर सकते हैं, उसे मैं क्यो नही कर सकता—पता नहीं मेरे मन मे यह भाव कैसे जागत हुआ? मेरे भीतर से लोगो की परवाह करने की प्रवत्ति छूट गई थी। दिन रात मैं काम पर जुटा रहता। परन्तु ज्यो ही पल भर का भी एकान्त आता, शुभ्र नीलाकाश म तरते अकेले बादल की तरह सामने तुम आ जाती।

जिन्दगी म जो छूट जाता है, स्वप्नवत होकर वह दुबारा नहीं मिलता न। मेरा मन तब भटका-सा लगता! अधेरे मे, गदले पानी म मैं कुछ टटोलने सा लगता अनायास। किसी बर्फीले रेगिस्तान मे जसे कोई नेत्रहीन भटक गया हो, उसी तरह मैं भी कहा-कहां नही टकरा रहा था—खाइयो म, खदको म, कटीली झाडियो के अन्तहीन विस्तार मे

किसी छोटी-सी नौकरी के इण्टरव्यू' के सिलसिले म, पढ़ाई छोड़ने के बाद पहली बार नैनीताल जा रहा था, उस दिन। विनायक से नैनीताल तक अब मोटर मार्ग बन चुका था, पर मेरे पास इतने भी पसे नहीं थे कि बस का किराया चुका सकू। मैं थका हुआ था, लम्बे सफर से। मेरे सामने से खाली बस कच्ची सडक पर धूल का गुबार उड़ाकर चली जाती और मैं रूमाल से मुह झाड़ता हुआ देखता रह जाता।

वे दिन रह रहकर याद आते रहे, जब नैनीताल म पढ़ा करते थे और अन्य छात्रो के साथ-साथ झुड की शक्ल मे इसी माग से आते जाते थे। किन्तु आज सब नया-नया-सा, अनचीन्हा सा लग रहा था?

लग रहा था—हाथ से बहुत कुछ अनायास छूटकर किसी अधेरे मे बिखरकर बिला गया है और मैं उसे समेटने का असफल प्रयास कर रहा हू।

यह शायद जून का महीना था। महीने का भी सम्भवत' अन्तिम सप्ताह! लगभग ये ही वो दिन थे, जब पहली बार यहां आया था। उसी दिन की तरह आज भी लेक ब्रिज पर वैसी ही भीड थी। कारें आ-आ

रही थीं। आज भी डोटियाल कुली हाथ में रस्सी और टोकन लिए यात्रियों से भरी बसों की ओर उसी तरह झपट रहे थे, जैसे तब झपटा करते थे। वैसे ही औरतों मर्दों बच्चों के रंग बिरंगे गुलदस्ते सड़कों पर हंसते-मुस्कराते चल रहे थे। किन्तु मैं खोया खोया सा सब देख रहा था, एकदम तटस्थ सा। मेरे रग रग में बसा यह शहर, इतना अजनबी-सा क्यों लग रहा आज था?

मुझे एहसास हो रहा था, रत्तीमात्र भी न बदलते हुए यह कहीं, कितना अधिक बदल चुका है। कोई भी चेहरा परिचित-सा लगता न था। सब अजनबी-अजनबी से!

असल में परिवर्तन कुछ भी न हुआ था शायद। पर तुम यहां नहीं हो अब—इसी की कल्पना मात्र से सब-कुछ वीराना वीराना सा लगता। तुम्हारे अस्तित्व से जुदा करके, इस शहर की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था ।

न गुरखा लाइन्स जाने का मन हुआ, न ब्लू-कॉटेज, और न किसी मित्र से मिलने की इच्छा ही। सबसे अलग अलग-सा रहा—बचता-कतराता हुआ-सा।

शाम को कचहरी रोड पर सुहास जैसा कोई आता दिखलाई दिया। कितना लम्बा चौड़ा। निकट आकर मैं उसे पहचानूं उससे पहले ही सुनायी पड़ा, "अरे, गुरु, आप?"

लपककर वह मुझसे लिपट पड़ा। भीड़ भरी सड़क पर सबके सामने एक दो चक्कर घुमाता हुआ बोला, "कब आए?"

"कल।"

"कहां हो आजकल?"

"अपने ही गांव में।"

"यहां कैसे?"

"बस्स, देवर की दौड़ भाभी तक!' उसी का पुराना वाक्य मैंने दुहराया तो वह कितना खुश हो गया था, "अब तक याद है गुरु, आपको हमारा 'ब्रह्मवाक्य'? धन्य हो!" वह और भी ऊंचे स्वर में फट पड़ा।

"कर क्या रहे हो आजकल?" कुछ रुककर उसने पूछा।

"कुछ नहीं, मक्खियां मार रहे रहे हैं !"

"फिर भी ?"

"पहले कुछ दिनों तक बड़े-बड़े पापड़ बेलता रहा । इधर कुछ समय से गांव में प्राइवेट जूनियर हाई स्कूल खुल गया है, उसमें नाम-मात्र की मास्टरी कर रहा हूं !"

"पढ़ाई लिखाई का सिलसिला ?"

'बस यह भी प्राइवेट ही चल रहा है, यार !" मैं हंस पड़ा, "तैयारी होती है तो इम्तहान दे देता हूं। नहीं तो टाला जाता है, आगे के लिए !"

"कहां तक पहुंच गए ?"

'बस, अन्तिम सीढ़ी पार होने ही वाली है ।

'बहुत खूब ! बहुत खूब ! गुरु, एक दिन अवश्य तरक्की करोगे "

"हां, तुम्हारा आशीर्वाद रहा तो " मैं कह ही रहा था कि वह एक धौल जमाता हुआ बोला, 'खूब कही ! क्या खूब !"

'यहां कब तक हैं ? अभी जल्दी में तो नहीं ?" उसने कुछ रुककर पूछा।

'नहीं-नहीं ! कल सुबह लौटने का इरादा है।"

मेरी बांह पकड़कर वह चलने लगा, "सच्च गुरु, आप मिल गए तो लग रहा है नैनीताल आना सार्थक रहा। आज मैं आपके ही बारे में सोच रहा था ।"

बजरीवाली सड़क पर हम नीचे उतर रहे थे। जूतों की कर्र-कर्र तीखी आवाज आ रही थी।

'आजकल कहां हो ?'

"इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में !"

उसने जेब में से सिगरेट का पैकेट निकालकर मेरी ओर बढ़ाया, "लीजिए न !"

तनिक सकोच से मैंने हाथ हिलाया, 'पीता नहीं ?"

"पीता नहीं ?" उसने दुहराया, "कब से छोड़ दी ?"

'जब से तुम्हारा नैनीताल छूटा, यार !" यों ही मैं मुस्करा पड़ा।

उसी तरह मुसकराता हुआ वह बोला, "तो यो कहिए न, तब से सब कुछ छूट गया?"

लेक ब्रिज' क पास स मेरे मना करने के बावजूद उसने नाव ले ली। बोट को उतारकर बडे जतन के साथ उसने सामने वाली सजी धजी रेशमी सीट पर रख दिया। उसी के बगल मे मुझे भी बिठलाकर स्वय पतवार चलाने लगा। मैंने भी चलाने का आग्रह किया तो बोला, 'आप सामने तो बैठेंगे बातें आसानी से हो सकेंगी।

'आपके दो रूप तो देख चुका गुरु, पर यह तीसरा सतुलित रूप पहली ही बार देख रहा हू। आपसे मैंने बहुत कुछ सीखा है । यो औरो से भी कुछ कुछ सीखता रहा हू। जीवन सीखने के लिए ही तो है ।"

कहता कहता वह कही खो सा गया था।

'डॉक्टर दत्ता कैसे हैं?' मुझे सहसा कुछ याद आया।

"क्यो आपको पता नही?'

"क्या?" मेरा मुह आश्चय से खुल गया।

"लास्ट ईयर उनकी डैथ हो गई थी।

"कैसे?"

ब्रेन ट्यूमर की-सी शिकायत थी।"

'ओह कितने भले थे बेचारे!"

" "

"तो श्रीमती दत्ता कहा हैं अब?'

'चडीगढ चली गई हैं अपने पेरेंटस के पास।"

'कभी मिली थी?

"हा, एक बार बरेली मे चलते चलते भेंट हुई थी। आपको बहुत याद करती थी। आपका सम्मोहन सवत्र व्याप्त है, गुरु! पिछले महीने अनुमेहा मिली थी, लखनऊ में। वह भी आपका जिक्र कर रही थी।"

"कर क्या रही आजकल?'

"वही मेढक चीर रही है बेचारी! साल-दो साल मे डॉक्टरनी बन जाएगी। आपकी कृपा से उसका भी जीवन बन गया, नहीं तो मैथ्स मे एकदम जीरो थी!"

"मेरी क्या कृपा थी यार, कृपा तो तुम्हारी थी, जिसकी बदौलत मुझे बीस रुपये मिल जाते थे, और वह पढ़ लेती थी ।"

'रॉक्सी' के पास एक नया-नया रेस्तरां खुला था—'मेघदूत' । सुहास घूमता घामता वहीं ले चला ।

"आपसे प्रेरित होकर मैंने लगभग सारा सत्-साहित्य पढ़ डाला," सुहास कह रहा था, सिगरेट का छल्ला हवा में उछालता हुआ, "मुझे लगता है जीवन में न तो अतिसयम आवश्यक है, न अतिअसयम ! बुद्ध का संतुलित, सम्यक सिद्धांत ही मुझे हर समस्या का एकमात्र समाधान नजर आता है—न विरक्ति, न आसक्ति ! यानी "

"यानी आसक्ति और विरक्ति—दोनों साथ-साथ ?"

"नहीं, नहीं ! न विरक्ति, न आसक्ति !" वह हंसने लगा सहसा, "छोड़ो भी यार, इन बातों को ! इतने दिन बाद मिले हो ! अच्छा, यह बतलाओ, शादी की है या नहीं ? हमारी 'गुरुआइन' कैसी हैं ?"

"शादी-वादी क्या ?"

'क्यों, कहीं 'लव-अफेयर' तो नहीं ?" वह जोर से हंस पड़ा था ।

उसे भवाली जाना था, किसी आवश्यक काम से । चाय पीकर वह चला गया तो मैं फिर अपने को भीड़ में खोजने लगा था—अकेला-अकेला । उखड़ा उखड़ा-सा ।

सुबह चला जाऊंगा । पता नहीं, फिर कब आना हो ! एक बार फिर सब-कुछ जी भरकर देखने को बावरा मन आतुर हो उठा ।

'ब्लू कॉटेज', माल रोड, ठंडी सड़क सारी परिक्रमा पूरी करने के बाद मैं कितना सुकून-सा अनुभव कर रहा था ! तुम से जुड़ी हर वस्तु कितनी अच्छी लगती थी मुझे ? ये घुमावदार सड़कें, यह नील-नीली झील, ये हरे-भरे पेड़-पौधे—सब अपने-अपने से लगते—अपनी ही सांसों के, अपने ही शरीर के, अपने ही जीवन के अभिन्न अंग ! इन सबके बिना क्या अपने अस्तित्व की कल्पना भी कर सकता था मैं ?

23

"आपके सिर के बाल कितने सफ़ेद हो गए, दद्दा !" ताली पीटते हुए, आश्चर्य से वसन्त कह रहा था।

मैं यों ही देखता रहा। मुझ पर जैसे कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

"गदे-गदे लग रहे हैं, मैं बीन दू, दद्दा ?' उसने इतने भोले भाव से कहा कि मैं हंस पड़ा।

"न बीनने से क्या होगा रे ?"

"शादी नहीं होगी !" हंसता हुआ, स्वयं ही झेंप गया था वह।

बगल के कमरे में शायद पिताजी बैठे थे। आंखें मूंदकर जाप कर रहे थे। जाप पूरा होते ही वह उठे और मेरे निकट आकर खड़े हो गए।

"यहां तेरा मन नहीं लगता न, विरा ?" उन्होंने मां की सी ममता से कहा, "इतना पढ़ने लिखने के बाद गांव में मन लगेगा भी कैसे ?" उन्होंने एक गहरी सांस ली।

मुझे याद आ रहा था, ठीक ऐसे ही शब्द पिताजी व्यंग्य में भी कहा करते थे कभी-कभी, जब उनसे तीव्र मतभेद हो जाता, किसी प्रश्न पर। पर आज उनका व्यवहार कितना बदला हुआ था ! अम्मा की मृत्यु के पश्चात् लगता था 'संन्यासी' पिता ने ममतामयी मां की ठौर ले ली है। मेरे सिर में दर्द होता तो सिरहाने बैठ जाते। घर में वही खाना बनता जो मुझे पसन्द था। बिना नारी का घर कैसा लगता है जोगियों की जमात-जैसा। किन्तु एक बार भी उन्होंने फिर मेरे विवाह की बात नहीं चलाई ! घर-बाहर के सारे संकट स्वयं झेलते रहे—अम्मा की भी तो ऐसी ही आदत थी, अंतिम समय तक श्रम करती रहीं !

"यहां क्या परेशानी है ? घर का स्कूल है ! आप लोगों के साथ रहने का सौभाग्य फिर कब मिलेगा ? कैसे ?" कहते-कहते मेरा मन भारी हो आया था।

पिताजी उस समय चुप रहे। मेरे मन का बोझ, उनके मन पर शायद कहीं भारी पड़ रहा था। इतना हंसने-बोलने के बावजूद मेरी आन्तरिक व्यथा को पिता होने के कारण शायद किसी-न किसी रूप में वह

बोल रहे थे।

"सब तरक्की करके कहां-से-कहां पहुंच गए हैं, तू यहां इस गांव में घूंट की तरह कब तक बया रहेगा ?" एक दिन अवसर पाकर उन्होंने फिर प्रसंग छेड़ा।

मैं जानता था, वह क्यों कह रहे हैं ? मेरी उपस्थिति उन्हें भार नहीं लग रही थी। अंतिम दिनों में मैं उनके साथ रहूं, उनकी आंखों के सामने —शायद वह यही चाहते थे, किंतु न जाने क्यों उन्हें लग रहा था कि मैं यहां किसी भारी घुटन में जी रहा हूं—जेल की-सी यंत्रणा में।

'तू दिल्ली चला जा विश्वम्भर के पास। वहां कुछ काम-काज ढूंढ। अपना चंद्रप्रकाश लग गया है नन्दावल्लभ भी। तू भी कहीं-न-कहीं कुछ ढूंढ़ ही लेगा। उनसे तू कुछ कम योग्य है ?"

मुझ पर जैसे कोई असर नहीं हुआ।

"यहां नहीं आना चाहता तो लखनऊ चला जा। तेरे मामा की ससुराल वाले हैं—गोविंद के कका। प्रथमा में मैंने ही उन्हें संस्कृत पढ़ाई थी। अब भी बहुत मानते हैं बिचारे।"

मेरे मना करने के बावजूद पिताजी ने स्वयं पत्र व्यवहार शुरू कर दिया था।

पिताजी अपने जीवन के अंतिम चरण पर हैं। किसी भी क्षण जा सकते हैं। वसन्त की पढ़ाई चल रही है। मैं यहां से कहीं बाहर चला गया तो इनका क्या होगा ? जो धेला-टका दिन रात पढ़ाने से मैं जुटा ले रहा था जिससे सुबह शाम चूल्हा जल रहा था—उससे भी ये वंचित रह जायेंगे। बाहर जाकर कैसे, क्या काम पाऊंगा, सूझता न था

मेरा शरीर यहां था, इस छोटे से कस्बेनुमा गांव में, जहां मैं चल-फिर रहा था हंस-बोल रहा था, पर मन हर क्षण कहां-कहां उड़ा रहता था। अपने टूटे हुए डैनों को फड़फड़ाता हुआ कभी मैं उस छोटी-सी मेज के निकट चला जाता, जिस पर तुम्हारी पेंसिल-कॉपियां बिखरी रहती थीं। जहां से पानी में भीगता छतरीनुमा वृक्ष साफ़ दिखलाई देता ! कभी झील के किनारे-किनारे न जाने क्या खोजने लगता ! अपने कमरे के आगे रात की रानी की महक मैं यहां भी क्यों अनुभव किया करता था ?यहां की मोटर

रोड के मोड़, मुझे चील-चक्कर के घुमावदार मोड़ों से कितने मिलते-जुलते लगते थे। आसमान मे वैसे ही रंग-बिरंगे छितरे बादल ! चीड़-देवदार के वनों को लीलता हुआ, वैसा ही आगे बढता कुहासा

मुझे लगता, जब तक मैं यहां रहूंगा, ये इसी तरह निरंतर दिखलाई देते रहेंगे। इनसे मैं कभी भी मुक्त न हो पाऊंगा।

मेरी भी कुछ आशाएं आकांक्षाएं थीं। जीवन मे मैं भी कुछ करना चाहता था, किन्तु अतीत के दलदल मे से निकल बिना रंचमात्र भी आगे बढ़ पाना असम्भव-सा लगता था।

पर कटे पक्षी की तरह ऊपर उड़ने के असफल प्रयास मे वहीं पर गिर गिरकर मैं छटपटा रहा था।

तभी एक दिन देखता हूं मैं मोटर मार्ग के किनारे खड़ा हूं। एक छोटे से ट्रंक के ऊपर दरी बंधा बिस्तरा रखा है। पिताजी और वसन्त पहाड़ के उस पार के मोड़ से आती बस की घरघराहट सुनने के लिए आतुर हैं।

"विरा, तुझे ढंग की नौकरी मिल गयी तो अब के जाड़ों में हम भी वहीं चले आयेंगे। खूब घाम तापेंगे। पिताजी सोच कुछ और रहे थे, कह कुछ और रहे थे, मुझे बहलाने के लिए।

"वहां अच्छे अच्छे स्कूल होंगे। वसन्त वहीं पढ़ेगा। मेरा क्या, कहीं किसी आश्रम मे प्रभु का नाम भजूंगा। मेरी अन्तिम आकांक्षा भी पूरी हो जाएगी !' पिताजी सच, उस क्षण कितने भावुक हो आए थे, "सत्य की सन्तति, असत्य का घन ! पता नहीं क्या सोचकर वह कहते-कहते चुप हो गए थे।

वसन्त बिस्तर के ऊपर बन्दर की तरह बैठ गया था। इतना बड़ा होने पर भी न जाने उसे अक्ल कब आएगी ? बस की प्रतीक्षा मे कुछ और लोग भी सड़क के इधर-उधर उत्सुकता से खड़े थे। आसपास के घरों के कुछ लोग यों ही खड़े हो गए थे तमाशा देखने के लिए।

"अपने ही गांव गिराम के, अपने ही निकट के कुछ लोग कितना खुश थे कि चलो पंडित की औलाद बिगड़ गयी ! पर मेरे पुण्य कहीं अकारथ जा सकते थे ? विरा, देख लेना एक दिन तू सबसे आगे न निकला तो ! तुमसे ही हमारा नाम रोशन न हुआ तो ! पिताजी की सौम्य शान्त आकृति

मे उस क्षण कितनी रेखाएं सहज ही खिंच आयी थीं।

पीछे से खचाखच भरी बस आई तो सब चील की तरह झपटे। पिताजी अपने कांपते हाथों से बिस्तर ऊपर चढ़ा रहे थे, "तू बैठ जा न सीट पर! खड़ा खड़ा कैसे जायेगा?"

बस चलने लगी तो मन्दिर की दिशा में उनके हाथ स्वयं जुड़ आये। डबडबाई आंखों से धूल उड़ाती बस के पीछे-पीछे वह देखते रहे, "विरा, चिटठी देना, हां ?"

उस समय क्या पता था कि उनके ये ही अंतिम शब्द मुझे सुनने को मिलेंगे ये ही अंतिम दर्शन

24

तुमसे मुक्त होने के लिए ज्यों-ज्यों दूर जा रहा था, मुझे लग रहा था, त्यों-त्यों तुम्हारे निकट आता चला जा रहा हूं।

टनकपुर से ट्रेन में बैठा तो तुम्हारे ही खयालों में घिरा रहा। बरेली से होकर ही तो दिल्ली का रास्ता है, हो सकता है तुम कहीं मिल पड़ो!

लखनऊ में रहने की सुविधा अधिक थी, परन्तु इसलिए मैंने टाल दिया था कि जिस आग के दरिया से निकलकर बाहर आया हूं, उसमें दुबारा नहीं जाऊंगा। अभी तक भी उसकी तपिश से मैं झुलस रहा था।

तुम्हारे बिना तुम्हारी स्मृतियों के बिना जीना असम्भव सा लगता था, किन्तु यह भी कटु सत्य था कि तुमसे मुक्त हुए बिना मैं जी ही नहीं सकता था।

सचमुच यह कैसी विडम्बना थी मेरे साथ! तुम्हारे निकट भी आना चाहता था, तुमसे मुक्त होने की आकांक्षा भी रख रहा था—ताकि मैं जी सकूं!

जहां-जहां गाड़ी रुकती, बाहर भीड़ में मैं कुछ खोजने-सा क्यों लग जाता था। सफ़ेद कपड़ों में जो भी आकृति दूर से आती दीखती, मुझे लगता, वह तुम ही तो नहीं! वैसे ही बिखरे-बिखरे सुनहरे बाल, हवा में

सहराता वैसा ही सफ़ेद आंचल, वैसी ही अधमुदी आँखें, वैसा ही निर्मल-निर्विकार दूधिया चेहरा ! हे भगवान ! मैं आंख मूद लेता !

ये कितने कितने भ्रम पाल लिए थे मैंने !

बरेली-जंक्शन पर सचमुच तुम्हें खोजने-सा लगा था मैं । यहीं तो घर था न तुम्हारा ! हो सकता है, छुट्टियां मे आयी हो ! हो सकता है, छुट्टिया बिताकर लखनऊ जाने के लिए स्टेशन तक आई हो !

प्लेटफाम 'एक' पर लखनऊ से दिल्ली जाने वाली मेलगाड़ी आनी थी—ठीक बारह बजकर पाच मिनट पर ।

पौने बारह बज रहे थे अब । कुली सामान रखकर किसी दूसरी गाड़ी के यात्री उतार रहा था । सुना था इस गाड़ी मे भीड़ इतनी अधिक होती है कि चढ पाना असम्भव-सा हो जाता है ? यही सोचकर कुली का दुगुनी राशि देना स्वीकार किया था कि वह सामान के साथ साथ मुझे भी खिड़की से भीतर धकेल सके ।

ब्रॉड गेज की इतनी चौड़ी, भारी भरकम पटरियां आज मैं पहली ही बार देख रहा था । उन पर से होकर, शोरगुल करती, धड़धड़ाती, लम्बे इंजिन वाली गाड़ी तीर की तरह गुजरती तो मेरा दिल धड़कने लगता ।

धीरे धीरे भीड़ बढ रही थी । भीड़ के साथ साथ पता नही क्यो मेरी आतुरता भी बढती चली जा रही थी ।

तभी सामने वाले प्लेटफॉम मे किसी गाड़ी से उतरती तुम-सी दिखलाई दी थी । छरहरी, सफेद छाया सी ! सिर पर क्रीम कलर की छतरी । उसी रग का हाथ मे झूलता पर्स ?

प्लेटफार्म के ऊपर बने पुल से नही, तुम सीधी पटरियां पार कर इधर आ रही थी—नम्बर एक प्लेटफार्म की तरफ । जहा बिस्तर के पास मैं खड़ा था पास ही बैठा कुली अब बीड़ी पीता हुआ खड़ा हो गया था । सिगनल हरा हो चुका था । धुए की एक मोटी लकीर-सी निकट आती चली जा रही थी । पटरियों पर एक खास किस्म की सनसनाहट-सी ।

ज्यो-ज्यों तुम पास आ रही थी, त्यो त्यो मेरा आश्चर्य बढ़ता चला जा रहा था । मैं बार-बार आंखें मलकर देख रहा था । आंखें भी तो धोखा खा जाती हैं कभी ? ऐसा ही कुछ-कुछ मुझे पीलीभीत स्टेशन पर भी हुआ

था, जब सफेद साड़ी पहन एक लवंगलता-सी तन्वगी किसी सैनिक अफसर के साथ दूर से आ रही थी ।

इस बार तुम्हारे बाल सचमुच हवा मे उड़ रहे थे । साड़ी का आंचल सामने से उतर कर पताका की तरह बिखर रहा था, तुम्हीं से लिपटने के लिए मचलता हुआ !

छोटी-सी अटैची सिर पर रखे, लाल कुर्ता पहने एक कुली धीमी चाल से चलता हुआ तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहा था—एक के बाद एक पटरियां पार करता हुआ ।

तुम मेरे कितने निकट आ गयी थी—अब ठीक सामने । बीच मे दो पटरियो का ही फासला रह गया था ?

मेल-ट्रेन पटरियो को चीरती हुई धीरे धीरे आगे बढ़ रही थी । उसी के साथ साथ हलचल भी बढ़ती चली जा रही थी । सामान सिर पर रख-कर कुली मुस्तैद खड़े हो गए थे । अपना-अपना मोर्चा सभालते हुए आगे-पीछे बढ रहे थे ।

अभी तुम्हारी निगाह टकरायी— 'आप ?" तुमने हवा मे हाथ उछालते हुए कितने आश्चर्य से कहा था ? तुम कदम आगे रखने ही वाली थी कि कुली ने तुम्हारी बाह पकड़कर तुम्हें रोक लिया था ।

तब तक हमारे बीच मे काले अजगर-सा फुफकारता इंजिन आ गया था । उसके पश्चात् एक-के-बाद एक डिब्बों की कतार ! और सहसा सब कुछ ओझल हो गया था पल भर मे ।

ट्रेन अच्छी तरह अभी रुकी भी न थी कि कुली सामान उठाए एक डिब्बे के साथ-साथ दौड़ने-सा लगा था ।

मेरी निगाहें कुछ खोजने का असफल प्रयास कर रही थी, पर मैं यन्त्र की तरह कुली के साथ-साथ खिचता चला जा रहा था, लगभग दौड़ता हुआ-सा ।

पता नही, किस तरह कुली ने सामान भीतर ठेला और बन्द दरवाजे की खुली खिड़की से एक अदद सामान की तरह मुझे भी भीतर फेंका—मुझे कुछ याद नहीं ।

मैं जब तक कुछ समझू, तब तक ट्रेन की चिंघाड़ से प्लेटफॉर्म

उठा था। गार्ड की सीटी के साथ-साथ बड़े-बड़े भारी पहिये घूमने लगे थे। मैं खिड़की से कुछ खोजने का प्रयास तब तक करता रहा, जब तक ट्रेन शहर की सीमा से बाहर न चली गयी।

25

बिलकुल विदेश-सी लग रही थी दिल्ली। लगता था, जैसे भीड़ मे खो गया हूं। दो-तीन साल तक निरन्तर भटकता रहा, तब कहीं पाव टिकाने को किंचित ठौर मिल पायी थी।

कनॉट प्लेस मे एक दिन जीवा मिल पड़ा था। कितनी खुशी हुई उसे देखकर!

देखते ही वह पहचान गया था, "विराग, तुम!"

'हां!' मैंने विस्मय से कहा था।

'जीवाणु' वैसा ही सूक्ष्म था अब तक। कद-काठी, बोल चाल, कहीं रत्तमात्र भी तो परिवर्तन नहीं।

"कहां हो आजकल ?"

"यहीं लोधी रोड मे ।"

"किस काम मे ?"

"एग्रीकल्चर मिनिस्टरी मे यू डी सी हूं। तुम ?" उसने मेरी ओर देखा था।

"रेडियो मे हू ।"

'दिल्ली में कब से हो ?"

"यही दो-तीन साल से ।

" "

'इससे पहले कहां थे ?" मैंने पूछा।

'लखनऊ मे!"

कनॉट सर्कस के गोल दायरे में देर तक हम टहलते रहे थे। नैनीताल से कब आया, लखनऊ कितने साल रहा, दिल्ली मे कब से हूं—यह

बतलाता रहा।

"लखनऊ मे और भी कोई अपरिचित ?"

"कुछ दिन सुहास रहा था डी० एफ० ओ० की ट्रेनिंग के बाद। हां, गुरु, आपकी शिष्या भी वहां!" उसे जैसे एकाएक याद आ पड़ा।

"कौन? कौन?" जानते हुए भी मैं अनजान बन रहा था।

"वही म डॉक्टर दत्ता की नीस! जिसे कभी आप पढ़ाया करते थे। क्या नाम था ?"

"अनुमेहा।"

"हां हां, अनुमेहा! एक दो बार हॉस्पिटल मे देखा था। ठीक हीरोइन जसी लगती थी।"

कोरी भावुकता स, किसी सीमा तक ऊपर उठ चुका था अब। जिंदगी मे ही नहीं, भावनाओं मे भी एक प्रकार की स्थिरता आ गई—ठहराव सा। इन कुछ ही वर्षों मे अपने मे कितना परिवतन अनुभव कर रहा था।

लखनऊ गया था, कुछ जरूरी काम से। सोचा, वक्त मिले तो तुमसे भी मिल लिया जाए।

मैं अस्पताल की ओर बढ रहा था चुपचाप।

यही था वह शहर, जिसे अन्तर की आखो से कितनी बार देखा था। तब दुविधा थी, सशय था। पर आज ऐसा कुछ भी अहसास नहीं हो रहा था। न कुछ अट पट अनहोना सा ही लग रहा था। न कही अजनबीपन ही।

चलत चलते मैं सोचता रहा—

मरीजों को देखने मे तुम व्यस्त होगी। माला की तरह आला गले मे डाल तेज-तज कदमो स वाड की ओर गैलरी से चल रही होगी। या थकी-थकी सी कुर्सी पर निढाल लेटी, कुछ सोचने मे लीन!

इतने वर्षों बाद सहसा मुझे सामने खडा देखोगी तो तुम पर कैसी प्रतिक्रिया होगी! तुम कितना चौंकोगी, कितने अचरज से देखोगी! अपनी आखो पर तुम्हें विश्वास ही न हो पायेगा न!

तुम्हारे चहरे पर अब गम्भीरता होगी। उम्र की कुछ रेखाए।

अपनी कनपटी के पास उग आये सफेद बालो का मुझे सहसा स्मरण

'हाँ" बड़ी मुश्किल से मैं कह पाया। पता नहीं उस क्षण इतना भावुक क्या हो आया था।

"आइये, आइये !" तुम आरामकुर्सी से सहसा उठ पड़ी थी, "बैठिए !"

मैं खड़ा था। तुम खड़ी थी। दोनों एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। अपनी आँखों पर जैसे विश्वास न हो पा रहा हो।

"अरे, बैठिए न !" तुम्हें जैसे सहसा शिष्टाचार का भान हुआ था, "आप खड़े क्यों हैं !"

सामने सफेद कपड़े से ढकी मेज पर आला रखा हुआ था। तुमने डॉक्टरों वाला सफेद कोट पहन रखा था।

बगल वाली कुर्सी तनिक सामने खींचकर मैं बैठ गया था।

अपनी कुर्सी पर हौले-से बैठते हुए तुमने कहा था, "मुझे मालूम था, एक दिन आप अवश्य आयेंगे ?" तुम जैसे मुझसे नहीं, स्वयं को सुनाकर कह रही थी—धीरे-धीरे।

"डाक्टरी के साथ साथ ज्योतिष भी सीख ली क्या ?" मैंने हँसते हुए कहा तो तुम झेंप सी आयी थी।

मेरे मना करने के बावजूद तुमने चाय मँगा ली थी।

' कब आये ?"

"कल शाम।"

"कहाँ रुके हैं ?"

महानगर।"

"कौन है कोई रिलेटिव ?"

"हाँ ।"

तुमने सामने से, धीरे से आला उठाया और उसके साथ खेलने लगी थी—यों ही, अकारण ?

"हाँ, कहाँ हैं आजकल, यह तो बतलाया नहीं !"

"जानना जरूरी है क्या ?' मैं हँस पड़ा था।

तुमने कितने अधिकार भरे स्वर में कहा था, 'हाँ !"

"ऐसे ही कुछ मेहनत-मजदूरी कर लेते हैं। कुलीगीरी !'

तुम हंसने लगी थी । तुम्हारी हसी वैसी ही मोहक थी ! दूधिया दांतो की वैसी ही चमक !

बिखरे बालो को समेटते हुए तुम मेरी ओर कुछ टटोलती निगाहो मे देख रही थी।

"फिर भी !"

मैं फिर हस पडा था, "रेडियो मे हू ?"

"किस पोस्ट पर ?"

"प्रोड्यूसर।"

"कहां ?"

"दिल्ली।"

"कब से हैं दिल्ली मे ?"

'यही कोई सात-आठ साल से।"

"मैं भी पिछले महीन दिल्ली गयी थी। दो दिन रुकी !"

"कहा ?'

"जोरबाग म, हमारे रिश्ते के अकल लगते हैं। आपके बारे म पता होता तो अवश्य मिलती !"

चाय आ गयी थी। तुम स्वय बनाने लगी थी। प्याले म चीनी डालते हुए तुमने एक बार मेरी ओर देखा था, "उतनी ही चीनी लेंगे ?'

"कितनी ?'

"जितनी तब लिया करते थे।"

'कब ?' मैंने बडे अनजान भाव से पूछा तो तुम अपनी हसी रोक नही पायी थी।

तुमने ठीक डेढ चम्मच चीनी मेरे प्याले मे डाली थी। मुझे आश्चय हुआ—अब तक तुम्हें सब याद है—एक एक बात !

"कभी ननीताल गयी थी ?" मैंने मौन तोडते हुए कहा।

हां !" तुमने हल्की-सी सास ली।

"कब ?"

"अकल की डैथ के समय !" तुम्हारा चेहरा एकाएक उदास हो आया था !

"कितने दिन रुकी ?"

"केवल एक दिन।"

"अधिक क्यों नहीं ?"

"पता नहीं !" तुमने अपने माथे पर उभरी रेखाओं को अंगुलियों के पोरों से सहलाते हुए कहा था, "चाहते हुए भी रुक न पायी थी। मुझे अजीब-अजीब सा लगता है वहां। बेहद अजनबीपन-सा।"

"अधिक आत्मीयता में से भी कभी-कभी अजनबीपन उभरने लगता है न !" मैंने कहा, पर, प्रत्युत्तर में तुम चुप हो गई थी। जो तुम भीतर-ही भीतर कहीं सोच रही थी, दर्पण की तरह तुम्हारे चेहरे से साफ झलक रहा था।

"एक बार बरेली मे तुम्हे देखा-जैसा लगता था !"

तुमने कोई उत्तर नहीं दिया। मेरी ओर तुम देखती चली जा रही थी।

"सुहास कहां है आजकल ?"

तुम जैसे नींद से जागी, "पहले कुछ समय तक किसी सर्विस में था। पर अब सुना है, कोई कारोबार शुरू किया है। खूब कमा रहा है।'

इतने में भागता भागता हाउस-सर्जन-सा कोई आया, "डॉक्टर, बेड नंबर थ्री की हालत सीरियस है। ऑक्सीजन !"

तुम हड़बड़ाकर उठ बैठी थी।

अपने दोनों हाथ में आला मजबूती से पकड़कर तुमने कहा था, 'अभी जरा जल्दी में हूं। शाम को घर आइए न ! आइ विल वेट फ़ॉर यू !"

' शाम की गाड़ी से जा रहा हूं !"

"नहीं-नहीं ! कैसे चले जाएंगे ?' तुम्हारा स्वर अधिकार-भरा था, "मैं घर ही रहूंगी। अवश्य आइए ?" पता देकर तुम सामने वाले बड़े कमरे में ओझल हो गयी थी।

शाम की रिजर्वेशन थी। जाऊं, न जाऊं—इसी दुविधा में देर तक झूलता रहा। अन्त में पता नहीं क्या सोचकर मैंने टिकट को कैंसिल करवा था, पर कुछ दूसरे कामों में ऐसा उलझा कि रात दस बजे से पहले समय

मिल पाया।

तुम्हारे बगले के बाहर इस समय रोशनी नहीं जल रही थी। हां, भीतर हल्का-हल्का नीला प्रकाश अवश्य बिखर रहा था।

उस रोशनी मे तुम्हारा घर स्वप्नलोक जैसा लग रहा था।

कमरे के निकट पहुचा तो सितार का मन्द मन्द करुणा स्वर हवा मे तिर रहा था। तुमने अपना दरवाजा यो ही अधमुदा छोड दिया था। धीरे-से किवाड खोलकर मैं अन्दर गया—पर तुम किसी दूसरी ही दुनिया मे खोयी हुई थी। सितार बजाने मे इतनी तल्लीन थी कि तुम्हें मेरी उपस्थिति का भी भान न रहा।

रात्रि के उस नीरव वातावरण म सितार के तारो म रह रहकर झकृत होता हुआ कम्पित स्वर कितना करुण लग रहा था! तुम्हारी सधी हुई अगुलियां तारो को कितने सहज ढग स छेड रही थीं—ददभरा स्वर बिखर रहा था। तुम्हारे गालो पर दो गीली लकीरें सी खिच आयी थीं, जिनसे बूद-बूद मोती झर रहे थे।

26

पता नही कब तुम्हारी तद्रा-सी टूटी! सजल नेत्रो से तुम देख रही थी, देखती जा रही थी—अचरज से।

तुम्हारे होठ चुप थे। आखें स्थिर।

"मे—हा!"

" "

'तुम रो रही हो, मेहा?

नहीं तो—!' तुमने यो ही सिर हिलाकर, हसने का प्रयास किया था। उस प्रयास म इतनी पीडा थी कि मेरा सारा शरीर हिल गया था।

'आज आपको देखकर जैसे सोया हुआ दद जग पडा हो! कभी कभी मन ऐसे ही उदास हो जाता है—अकारण। पर आप इतने गम्भीर क्यों हो गए ?"

मैं अब भी चुप था।

वायुमंडल में कुछ तिर-सा रहा था। तुम्हारा स्वर तुम्हारा-जैसा नहीं लग रहा था। दीवार की तरफ़ से जैसे कुछ शब्द हवा में बिखर रहे हों—टूट-टूटकर।

"मैं तो सोच रही थी, आप नहीं आयेंगे। जाना ज़रूरी बतला रहे थे न !"

'जाना तो था, पर पता नहीं क्यों जा नहीं पाया ?"

"बैठेंगे नहीं ?" तुम सीतलपाटी पर से उठने का प्रयास कर रही थी। सितार को एक कोने पर ले जाकर, हौले से तुमने सुला दिया था। फिर 'अभी आयी' कहती हुई, भारी भारी कदम रखती धीरे से पर्दे के उस पार कहीं ओझल हो गई थी।

तुम्हारे कमरे की प्रत्येक वस्तु को मैं कितनी जिज्ञासा से देख रहा था। सामने बुद्ध की ठीक वैसी ही काष्ठ प्रतिमा थी, जैसी कभी मैंने उपहार में तुम्हें दी थी बायीं दीवार पर नैनीताल का विशाल तैलचित्र छाया हुआ। पूर्णमासी की चांदनी में आसमान की ओर उछलती लहरें आज जोगिया रंग की साड़ी पहन रखी थी तुमने—यह रंग मुझे बहुत पसंद था !

तभी पर्दे पर सरसराहट सी हुई। दरवाजे पर आहट। देखा—तुम कमरे में आ रही हो। हाथ-मुंह धोने के बाद फूलों की सी ताजगी से भर आया था तुम्हारा चेहरा।

"यों घूरकर क्या देख रहे हैं ?" तुमने तनिक हल्के होते हुए कहा।

'तुम्हारी आंखों में इस समय वही मेहा झांक रही है, जो शीशे की कटोरी में दही लिए उस दिन खड़ी थी । ओह आज कितने बरस बीत गए—पूरा एक युग ?"

"वह तो कब को मर गयी—!'

"हां, तभी तो इतना याद आती है। काश, वह सचमुच मर गयी होती ।'

तुम्हारे चेहरे पर एक साथ कितने भाव आ-जा रहे थे।

"वह सब भूल क्यों नहीं जाते ?"

"हां, तुम ठीक कह रही हो !"

कमरे मे असहृा मौन व्याप गया था। उससे त्राण पाने के लिए तुमने मेरी ओर देखा था, "क्या लेंगे—ठडा, गरम ?"

तभी फोन की घटी घनघनाई। भागती हुई तुम दूसरे कमरे मे चली गयी थी।

मैं उठ खडा हुआ और कमरे मे यो ही चहलकदमी करने लगा था। खिडकी का पर्दा हटाकर बाहर का दृश्य देखने लगा। दूर कही हरे रग की नियॉन लाइट दिपदिपा रही थी।

मुझे आज क्या हो रहा है, मेरी समझ मे नहीं आ रहा था। जिस भावुकता से उबर चुका था, वही आज फिर-फिर क्यो घिर रही थी!

"क्या देख रहे हैं ?" तुमने पीछे से, मेरे बहुत करीब आकर कहा।

'देखो, वह रोशनी कितनी अच्छी लग रही है ! हा, यह फूलों की महक कहा से आ रही है ?"

"अपने किचन गार्डन से। मैंने वहां कितने फूल उगाये हैं ! रात की रानी की महक आपको बहुत अच्छी लगती थी न ! आइए, दिखलाऊं कितनी खिली है !"

सचमुच रात की रानी महक रही थी।

"यह छतरीनुमा छोटा सा पेड किस चीज का है ?"

"कुछ नहीं—! चलिए न भीतर—!"

तुमने किवाड कितने ज़ोर से बन्द कर दिए थे !

"हां, बतलाइए न ! क्या लेंगे—ठडा, गरम ?"

कितनी मासूमियत से तुम कह रही थी! तुम्हारे चेहरे पर अबोध बच्चो की-सी जिज्ञासा थी।

"बोलिए भी न ! तुमने कहा तो मैं रहस्यमय ढग से हस पडा था।

'ठडा गरम तो रोज ही लेते हैं। आज कुछ और पीने की इच्छा है। पिला सकोगी ?"

'कहिए भी !"

पहले हा' कहो !'

"हां बाबा, हां!'

'तुम्हारे हाथों से आज ज़हर पीने की इच्छा है, पिला सकोगी

मेहा !"

"सच्चो ! पियेंगे जहर ?" तुम उसी तरह हसने लगी थी। तुम्हारे हंसते ही वातावरण की सारी बोझिलता कहां चली गयी थी।

"हां-हां !"

लपककर तुम जल्दी से भीतर चली गयी थी। कुछ समय बाद लौटी तो तुम्हारे हाथ में शीशे का एक भरा हुआ गिलास था।

"लीजिए, है हिम्मत !"

मैंने अपने हाथों मे थामकर, क्षणभर गिलास के भीतर झांका और फिर होठो से लगाकर आधा पिया ही था कि 'बस् बस्' कहती हुई, तुमने मेरा हाथ पकड लिया था।

"कैसा लगा जहर ?"

"मीठा, अमृत-जैसा।"

"मरने से डर नहीं लगा ?"

"ना, तुम्हारे हाथो से जहर भी अमत हो जाएगा, मुझे मालूम था ।" मैं कह ही रहा था कि तुम जोर से हस पडी थी, "अपने लिए मैंने रखा था, किसी दिन बहुत तग आ गयी तो ! आज आपके काम आ गया ।" शेष बचा गिलास तुमने एक ही सास मे गटक लिया था।

"सितारा का शौक कब से जागा ?"

'जब से एकांत का दौर शुरू हुआ। लगता है, यह मेरी तरह एकाकी है। मेरा दद, इसके दद से मिलकर कभी घनीभूत होकर उभरता है तो सब-कुछ भूल जाती हू ।"

मैं तुम्हारे चेहरे की ओर देख रहा था। बिना किनारी की प्लेन साडी में तुम्हारा रग कितना निखर आया था !

तभी तुम्हें सहसा कुछ याद आ पड़ा, "चाय बनाऊ ! याद है आपको चाय कितनी पसन्द थी !"

मैं हसी रोक न पाया, "क्या चाय पर ही टालने का इरादा है—खाना-वाना कुछ नहीं ? सुबह से भूखा हू। अब तो होटल भी बन्द हो गए होंगे !"

"खाने के लिए आपको किसी ने बुलाया भी था ! आप तो शाम को

दिल्ली लौट रहे थे !" तुमने उसी शरारत से उत्तर दिया।

"ठीक है !" इतना कहकर मैं चुप हो गया था। फिर एक बार घड़ी पर उड़ती निगाह डालकर मैंने आंखें मूद ली थी।

"अब कहोगे, जल्दी मे हू। सुबह की ट्रेन से जाना है। किसी रिलेटिव के घर ठहरा हू वह इतजार करेंगे।" तुम सिर को ऊपर-नीचे झटकते हुए कह रही थी, "मैं चार बजे से बैठी हू। शाम की ड्यूटी भी आज मिस कर दी।"

मेरा चेहरा कुछ-कुछ गम्भीर हो आया था। तुमने फिर एक-दो प्रश्न पूछे जिनका मैं उत्तर न दे सका था।

"बुरा मान गए न !" मेरे बहुत निकट आकर तुमने कहा। मेरे माथे पर हाथ लगाया तो तुम चीख सी पड़ी थी, 'कितना तप रहा है ! फीवर तो नही ?"

मैं हस पड़ा था, "डाक्टरनी हो न ! दो चार रोग निकाल ही लोगी, आसानी से !"

तुमने जैसे सुना नहीं।

"सचमुच अब भूख लग आयी होगी ! खाना लगाऊ ?" मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही तुम उठ पड़ी थी।

जल्दी जल्दी तुम मेज पर खाना लगा रही थी। कितना ढेर सारा भोजन मेज पर नुमाइश की तरह सजा दिया था। पता नही क्या-क्या बनाया था !

"जिसे भविष्य मे आगे न खिलाना हो, उसे एक ही बार में सब खिला देते हैं।"

खाते-खाते तुम मुसकरा पड़ी थी। किन्तु कुछ क्षण बाद पता नहीं क्यो स्वय ही गभीर हो गयी थी, "कितनी साध थी, बस एक बार आपको खुद बनाकर खिलाऊ। भगवान ने आज वह पूरी कर दी। तब आपसे घबराती थी। ठिठुरती सर्दी मे भी चाय के लिए नही पूछ पाती थी। इसी भय के कारण आपसे कभी भी भली भाति बातें नही कर पाती थी। आज वह भय नहीं रहा, किन्तु लगता है, अब कहने के लिए कुछ भी बचा नहीं हमारे पास !"

मैं भी तब तनिक गभीर हो आया था।

"घर मे कौन-कौन है ?" तुमने हाथ का कौर अपने होंठो के करीब ले जाते हुए पूछा था।

"बस बसत है—मेरा छोटा भाई !"

"माता पिता ?"

"सब चले गए।"

"शादी ?"

सहसा मैं हस पडा।

'क्यो ? अब तक क्यो नही की ?" तुमने कुछ ऊचे स्वर मे कहा।

मैं तनिक मुह बनाकर तुम्हारी ओर देख रहा था, "कोई मिली नही ! अब ढूढ़ दो न !"

तुम मुसकरा उठी थी, "कैसी लडकी चाहिए ?"

'तुम्हारे जैसी !"

"मेरे जसी ?" तुमने पानी पीते-पीत गिलास टक् से नीचे रख दिया था, "मेरे-जैसी तो आपको कतई पसद नही थी। याद है, एक बार ।"

मैं जोर से हस पडा था, "हां हा, याद है !"

पानी से भरे हुए गिलास को झटके से नीचे रखने के कारण मेज पर कुछ बूदें बिखर गयी थीं। तुम सहसा गभीर होकर अपनी अगुली की नोक से एक बूद का दूसरी, तीसरी से जोडती चली जा रही थी।

दर बाद तुमने पलकें ऊपर उठायी, "अरे, आपने हाथ क्यो खींच लिया ? खाना पसन्द नहीं आया न !'

"नहीं-नहीं !"

'जल्दी म कुछ बना नही पायी ।"

"इतना सारा तो बनाया !"

"पर आपने खाया तो कुछ भी नहीं !"

"तुम्हारा ध्यान कहीं और था न ! आधे से अधिक तो मैं ही खा गया ! इतना स्वादिष्ट भोजन आज मुद्दत बाद किया।"

"बातें बनाना कोई आपसे सीखे। अरे, स्वादिष्ट होता तो खाते नहो !"

दिल्ली लौट रहे थे !" तुमने उसी शरारत से उत्तर दिया।

"ठीक है !" इतना कहकर मैं चुप हो गया था। फिर एक बार घडी पर उडती निगाह डालकर मैंने आँखें मूद ली थी।

"अब कहोगे, जल्दी मे हू। सुबह की ट्रेन से जाना है। किसी रिलेटिव के घर ठहरा हू, वह इतजार करेंगे।" तुम सिर को ऊपर-नीचे झटकते हुए कह रही थी, "मैं चार बजे से बैठी हू। शाम की ड्यूटी भी आज मिस कर दी।"

मेरा चेहरा कुछ-कुछ गम्भीर हो आया था। तुमने फिर एक दो प्रश्न पूछे, जिनका मैं उत्तर न दे सका था।

"बुरा मान गए न !" मेरे बहुत निकट आकर तुमने कहा। मेरे माथे पर हाथ लगाया तो तुम चीख सी पडी थी, 'कितना तप रहा है! फीवर तो नही ?"

मैं हस पडा था "डॉक्टरनी हो न ! दो चार रोग निकाल ही लोगी, आसानी से !"

तुमने जैसे सुना नहीं।

"सचमुच अब भूख लग आयी होगी ! खाना लगाऊ ?" मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही तुम उठ पडी थी।

जल्दी जल्दी तुम मेज पर खाना लगा रही थी। कितना ढेर सारा भोजन मेज पर नुमाइश की तरह सजा दिया था। पता नही क्या-क्या बनाया था !

"जिसे भविष्य मे आग न खिलाना हो, उसे एक ही बार में सब खिला दते हैं।"

खाते-खाते तुम मुसकरा पडी थी। किन्तु कुछ क्षण बाद पता नहीं क्या स्वय ही गभीर हो गयी थी, "कितनी साध थी, बस एक बार आपको खुद बनाकर खिलाऊ। भगवान ने आज वह पूरी कर दी। तब आटी से घबराती थी। ठिठुरती सर्दी मे भी चाय के लिए नही पूछ पाती थी। इसी भय के कारण आपसे कभी भी भली भाति बातें नही कर पाती थी। आज वह भय नहीं रहा, किन्तु लगता है, अब आने मे [illegible]
हमारे पास !"

मैं भी तब तनिक गभीर हो आया था।

"घर मे कौन-कौन है ?" तुमने हाथ का कौर अपने होंठों के करीब ले जाते हुए पूछा था।

"बस बसत है—मेरा छोटा भाई !"

"माता-पिता ?"

"सब चले गए।"

"शादी ?"

सहसा मैं हस पडा।

'क्या ? अब तक क्यो नही की ?" तुमने कुछ ऊचे स्वर मे कहा।

मैं तनिक मुह बनाकर तुम्हारी ओर देख रहा था, "कोई मिली नही ! अब ढूढ दा न !"

तुम मुसकरा उठी थीं, "कैसी लडकी चाहिए ?"

'तुम्हारे जैसी !"

"मेरे जैसी ?" तुमने पानी पीते-पीते गिलास टक् से नीचे रख दिया था, "मेरे जैसी तो आपको कतई पसद नही थी। याद है, एक बार ।"

मैं जोर से हस पडा था, ' हां हा, याद है !"

पानी से भरे हुए गिलास को झटके से नीचे रखने के कारण मेज पर कुछ बूदें बिखर गयी थीं। तुम सहसा गभीर होकर अपनी अगुली की नोक से एक बूद को दूसरी, तीसरी से जोडती चली जा रही थी।

देर बाद तुमने पलकें ऊपर उठायी, "अरे, आपने हाथ क्यो खीच लिया ? खाना पसन्द नहीं आया न !'

"नहीं-नहीं !"

"जल्दी म कुछ बना नहीं पायी ।"

"इतना सारा तो बनाया !"

"पर आपने खाया तो कुछ भी नही !"

"तुम्हारा ध्यान कहीं और था न ! आधे से अधिक तो मैं ही खा गया। इतना स्वादिष्ट भोजन आज मुद्दत बाद किया।"

"बातें बनाना कोई आपसे सीखे। अरे, स्वादिष्ट होता तो खाते नही !"

दिल्ली लौट रहे थे !" तुमने उसी शरारत से उत्तर दिया।

"ठीक है !" इतना कहकर मैं चुप हो गया था। फिर एक बार घड़ी पर उड़ती निगाह डालकर मैंने आँखें मूद ली थी।

"अब कहोगे, जल्दी मे हू। सुबह की ट्रेन से जाना है। किसी रिलेटिव के घर ठहरा हू, वह इतजार करेंगे।" तुम सिर को ऊपर-नीचे झटकते हुए कह रही थी "मैं चार बजे से बैठी हू। शाम की ड्यूटी भी आज मिस कर दी।"

मेरा चेहरा कुछ-कुछ गम्भीर हो आया था। तुमने फिर एक दो प्रश्न पूछे जिनका मैं उत्तर न दे सका था।

"बुरा मान गए न !" मेरे बहुत निकट आकर तुमने कहा। मेरे माथे पर हाथ लगाया तो तुम चीख सी पडी थी, 'कितना तप रहा है ! फीवर तो नही ?"

मैं हस पडा था, "डाक्टरनी हो न ! दो चार रोग निकाल ही लोगी, आसानी से !"

तुमने जैसे सुना नहीं।

' सचमुच अब भूख लग आयी होगी ! खाना लगाऊ ?" मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही तुम उठ पडी थी।

जल्दी जल्दी तुम मेज पर खाना लगा रही थी। कितना ढेर सारा भोजन मेज पर नुमाइश की तरह सजा दिया था। पता नही क्या-क्या बनाया था !

'जिसे भविष्य मे आगे न खिलाना हो, उसे एक ही बार में सब खिला देते हैं ।"

खाते-खाते तुम मुसकरा पडी थी। किन्तु कुछ क्षण बाद पता नही क्या स्वय ही गभीर हो गयी थी, "कितनी साध थी बस एक बार आपको खुद बनाकर खिलाऊ। भगवान ने आज वह पूरी कर दी। तब आटी से घबराती थी। ठिठुरती सर्दी में भी चाय के लिए नहीं पूछ पाती थी। इसी भय के कारण आपसे कभी भी भली भाति बातें नही कर पाती थी। आज वह भय नहीं रहा, किंतु लगता है, अब कहने के लिए कुछ भी बचा नहीं हमारे पास !"

मैं भी तब तनिक गभीर हो आया था।

"घर मे कौन-कौन है ?" तुमने हाथ का कौर अपने होठों के करीब से जाते हुए पूछा था।

"बस वसत है—मेरा छोटा भाई!"

"माता पिता ?"

"सब चले गए।"

"शादी ?"

सहसा मैं हस पडा।

"क्यो ? अब तक क्यो नहीं की ?" तुमने कुछ ऊचे स्वर मे कहा।

मैं तनिक मुह बनाकर तुम्हारी ओर देख रहा था, "कोई मिली नही ! अब ढूढ दो न !"

तुम मुसकरा उठी थी, "कैसी लडकी चाहिए ?"

"तुम्हारे जैसी !"

"मेरे जसी ?" तुमने पानी पीते पीते गिलास टक् से नीचे रख दिया था, "मेरे-जैसी तो आपको कतई पसद नहीं थी। याद है, एक बार ।"

मैं जोर से हस पडा था, "हा हा, याद है !"

पानी से भरे हुए गिलास को झटके से नीचे रखने के कारण मेज पर कुछ बूदें बिखर गयी थीं। तुम सहसा गभीर होकर अपनी अगुली की नोक से एक बूद को दूसरी, तीसरी से जोडती चली जा रही थी।

देर बाद तुमने पलकें ऊपर उठायीं, "अरे, आपने हाथ क्यो खींच लिया ? खाना पसन्द नही आया न !"

"नहीं-नहीं !"

"जल्दी म कुछ बना नहीं पायी ।"

"इतना सारा तो बनाया !"

"पर आपने खाया तो कुछ भी नहीं !"

"तुम्हारा ध्यान कही और था न ! आधे से अधिक तो मैं ही खा गया। इतना स्वादिष्ट भोजन आज मुद्दत बाद किया।"

"बातें बनाना कोई आपसे सीखे। अरे, स्वादिष्ट होता तो खाते नहीं !"

रूमाल से गीले होंठो को पोछते हुए मैंने कुछ रुककर कहा, "देखो नेहा, जो वस्तु बहुत पसन्द हो, उसे हमेशा कुछ कम खाना चाहिए, ताकि उसके प्रति रुचि बनी रहे।"

"तो दर्शनशास्त्र से पीछा अब तक नहीं छूटा ?" तुमने व्यंग्य भाव से कहा था।

"अब क्या छूटेगा, इस 'बुढ़ापे' में ..."

तुम हंस पड़ी थी जोर से।

"कभी नैनीताल याद आता है ?"

मैंने सिर हिला दिया था, 'नहीं।

"मैं कभी कभी सपने में अपने को अब भी वहीं भटकती देखती हूं— न जाने क्या खोजती हुई! कभी दूर से आता आपका प्रतिबिम्ब-सा दिखलायी देता है और सपना टूट जाता है ...!"

"जो स्मृतियां दु:ख दें, उन्हें भुला देना ही हितकर है ...। नैनीताल की याद लिए बहुत सारी वस्तुएं मैंने झटककर दूर फेंक दी हैं। वर्षों तक कितना जूझता रहा अपने आप से! यह सब नहीं करता तो कब का पागल हो गया होता ...।"

दीवार पर टंगे चित्र से दृष्टि हटाकर तुम मेरी ओर देख रही थीं। चुनौती का सा भाव तुम्हारे चेहरे पर उभर आया था, सच-सच बताओ, वस्तुएं फेंकने मात्र से क्या स्मृतियां मिट जाती हैं ? नैनीताल की कभी आपको कोई याद नहीं आती ?" तुम्हारा स्वर ऊंचा हो आया था, अपने से भागकर आदमी कहां जायेगा! इससे अच्छा है, जो है उसे सहर्ष स्वीकार कर ले और उसी में किसी तरह जीता रहे ...।"

"भोजन से मेरे हाथ खींचते ही तुमने भी एक ओर सरका दी थी ?

"यह मीठा तो आपने लिया नहीं !"

एक टुकड़ा तुम मेरे होंठों के करीब ले आयी थी।

मेरी उड़ती निगाह फिर कलाई पर बंधी घड़ी पर पड़ी।

जल्दी-जल्दी प्लेटें समेटकर तुम एक प्याला चाय ले आयी थी।

'मदर कैसी हैं ?" मैं गरम प्याले से उठती भाप की ओर देख रहा था।

"इतने बड़े घर मे अकेली रहती हो, शादी क्यो नही कर लेती ? इस कोरी भावुकता मे क्या रखा है ?"

देर तक तुम चुप रही थी, किसी भवर मे डूबती उतराती। कितना असह्य सन्नाटा-सा छा गया था उस क्षण ! फिर अधेरी खिड़की के उस पार कुछ खोजती निगाहो से देखती हुई बोली थी "कही भी मन टिकता नही अब !"

"क्यो क्यो ?"

तुमने एक गहरा नि श्वास छोड़ा था "जो मुझसे शादी करना चाहता था, उससे मैं कर न पायी। जिससे मैं शादी करना चाहती थी, वह ।"

"मान लो जिससे तुम शादी करना चाहती थी, वह भी तुमसे शादी करना चाहे !"

"नही, नहीं !" तुमने जैसे एकाएक तड़पकर कहा था, 'मैं स्वय अब उससे शादी नही कर सकती। मैं उसके योग्य नही रही ।"

'मान लो, वह अब भी तुम्हें हर दृष्टि से योग्य समझ ले तो !"

"नही यह मैं हरगिज नहीं होने दूगी। जिसे मैंने सब कुछ समझा, उसी से छल करू ? आप नहीं समझ सकते यह सब। आपको कैसे समझाऊ ! जीवन मे नारी केवल एक बार ही वरण करती है। केवल उसी को समर्पित होती है। यों शरीर का क्या है ?" तुम्हारा चेहरा कितना भावुक हो आया था !

'यही तो मैं कह रहा हू—नारी को 'हिरण्य' कहते हैं। हिरण्य यानी सोना। सोना भी कहीं अपवित्र होता है, मेहा ?"

'नही नही !" तुमने मेरे होंठो पर अपनी हथेली रख दी थी, 'इस प्रश्न पर आप अब कभी भी बात नही करेंगे। मैंने आपको कभी भी साधारण नहीं, असाधारण ही माना है। मेरी वह प्रतिमा बनी रहने दो, खडित न करो। वह खडित होगी तो मैं भी टूट टूटकर बिखर जाऊगी।' तुम्हारा स्वर लड़खड़ा रहा था।

"तुम समझती क्यो नही ?"

"अब समझने के लिए कुछ रहा ही नहीं तो यह सब अब अगले जनम के लिए छोड़ दो ।

तुम मेरी ओर खोयी-खोयी-सी देख रही थी, "विवाह का अब विचार ही त्याग दिया। कुछ कट गयी, कुछ और कट जायगी। अधिक जीकर भी क्या करना है?"

"एक बार और विचार कर लेना ।"

मेरे मना करने के बावजूद तुम बाहर गेट तक छोड़ने आयी थी।

थोथे संस्कारों से मुक्त हुए बिना किसी को सच्ची तसवीर कैसे दीख सकती है—चलते-चलते मैं सोच रहा था।

तुम लौटने लगी थी। आगे अंधेरा-ही-अंधेरा था।

मुझे जैसे सहसा कुछ याद आया, "मेहा!"

तुमने पलटकर देखा।

"अब कब आऊं?"

तुम्हारा चेहरा रुलाई-भरा था। बरसने से पहले बादल जैसा। होंठ काटते हुए तुम देख रही थी, "नहीं-नहीं, अब मत आना। कभी नहीं—कभी भी नहीं। नहीं तो मेरे लिए जीना और भी अधिक दूभर हो जायेगा। समझ लेना अनुमेहा अब मर गयी ।" सिसक सिसककर तुम रो पड़ी थी।

27

दिल्ली लौटकर कुछ दिन मन उखड़ा-उखड़ा रहा। परन्तु फिर मैंने अपने को काम में डुबो दिया था। अधिक भावुकता में बहकर कोई जी नहीं सकता, यह मैं जान चुका था। अपने को भुलाये रखने के लिए निरन्तर व्यस्त रहने के अतिरिक्त और चारा भी मेरे पास क्या था?

तभी मेरे जन्मदिन पर इस बार एक छोटा-सा पार्सल आया था—एक कीमती पेन, जिसमें तुम्हारा नाम अंकित था। जो आज भी मेरे पास ज्यों-का-त्यों रखा हुआ है।

इसके प्रत्युत्तर में मैंने जो पत्र भेजा, उसका जवाब महीनों तक न मिल पाया तो मुझे लगा कि मेरा यह अनुमान सच था कि अब तुम मुझसे

मिलना ही नहीं, बल्कि पत्र-व्यवहार करना भी नही चाहती।

लगभग ढाई-तीन साल बाद फिर लखनऊ जाने का कार्यक्रम बना था। फिर उसी अस्पताल मे गया तो पता चला कि वहा से त्यागपत्र दिए तुम्हें अर्सा हो गया।

उस घर को भी एक बार देखा, जिसमें कभी तुम रहती थी। वहा अब कोई दक्षिण भारतीय परिवार रह रहा था।

किसी ने कहा, तुम हरदोई की तरफ कही चली गयी हो। वहीं गांवो में प्रैक्टिस करती हो। किसी ने बतलाया, मानसिक रूप से अस्वस्थ रहने के कारण तुमने नौकरी छोड दी थी।

आज जीवा घर आया था—पता नही कितने महीनों बाद! गर्मी की छुट्टियो मे गांव गया था—पहाड।

नैनीताल गये थे, जीवा ?"

हां, लौटते समय दस बारह दिन रुका था!"

'अब तो बहुत बदल गया होगा न नैनीताल ?'

'हां, बहुत सारे होटल खुल गये हैं। भीड भडक्का भी कुछ ज्यादा है।"

'तुम्हे याद है, जब हम पढ़ते थे तब कितनी शान्ति थी वहां! अंग्रेज तब गये-गये ही थे। सडकें साफ सुथरी। हरे भरे पहाड। लबालब भरी झील का सडक तक छलकता जल!"

" "

'कोई मिला था परिचित ?"

"कोई नहीं। इतने वर्षों बाद क्या कही बठे रहते हैं परिचित! मेरा भाई वहा दफ्तर मे है, उसी के साथ ठहरा था।"

"हां, गुरु!' उसे जैसे सहसा फिर कुछ याद हो आया, "लौटते समय लेक ब्रिज पर डॉ० अनुमेहा को देखा था—सुहास की गाडी में। कहते हैं तराई के थारू आदिवासी क्षेत्र मे उसने कोई 'चेरिटेबल मोबाइल हॉस्पिटल' खोला है। सारा खच सुहास देता है।"

'सुहास मिला था ?"

"नहीं, वह नहीं मिला इस बार। सुना है, बड़ा अच्छा कारोबार चल रहा है उसका। थारू इलाके में अपने पिताजी के नाम से स्कूल भी खोल दिया है ।"

"तुम मेहा को देखते ही पहचान गये थे?" मैंने कैसा अजीब-सा सवाल पूछा था।

"हां-हां! कुछ कमजोर-सी लगती थी, उखड़ी-उखड़ी, उजड़ी-उजड़ी-सी। ईसाई मिशनरियों के जैसे सफेद कपड़े पहने थे।"

लम्बे अर्से बाद मैं उसी आदिवासी क्षेत्र से होकर घर जा रहा था। वहां पता चला कि वह चलता फिरता अस्पताल अब नहीं दिखलाई देता। पहले खटीमा, बनबसा, सैंनापानी में हर हफ्ते नियमित रूप से आता था—रोगियों को दवाइयां बांटकर चला जाता था।

किसी ने बतलाया, नेपाल की सरहद के उस पार भी थारू रहते हैं, जिनकी स्थिति और भी दयनीय है। हो सकता है, तुमने अब वहीं अस्पताल खोल लिया हो। पुल से आर-पार आती जाती गाड़ी कई बार लोगों को दिखलायी दी थी।

किसी ने कहा—घने जंगल में टूटी हुई गाड़ी के अवशेष उन्होंने देखे थे। कोई दुर्घटना हो गई हो या जंगली हाथी ने गाड़ी उलट दी हो ।

28

सामने टंगे कैलेंडर की ओर देख रहा था। नारियल के हरे भरे वृक्ष और उनके झुरमुट में तैरती एक लम्बी-सी, पतली नौका!

अभी कल ही तो बदला था यह! इससे पहले कोई और चित्र था। उससे पहले—उससे पहले

कितने चित्र, कितनी तिथियां बदल गयीं, पर कुछ बदला-बदला सा लगता नहीं! सब-कुछ वैसा-का-वैसा ही दीखता है। मन की अंतरंग दुनिया में शायद दिन-महीने नहीं होते, न वर्ष ही बदलते हैं। तो ।

वह वैसा ही सजोया-सा रहता है

अर्से बाद सुहास को पत्र लिखा था, किन्तु वह लौट आया था—मेरे अपने ही पते पर।

व्यक्ति जब आंखों से ओझल हो जाता है, हमेशा के लिए, उसकी स्मृतियां तब और भी अधिक साकार होकर सालने-सी लगती हैं। मुझे अहसास हो रहा था—तुम और भी उग्र रूप से उभर आयी हो कहीं

विशाखापट्टम के सागर-तट पर खड़ा था उस रात। पूरा चांद न होने पर भी विराटी ऊंची-ऊंची लहरें, एक के बाद एक, किनारे की चट्टानों से टकरा रही थीं। चांद नन्हीं गेंद-सा उछलता हुआ इधर-उधर डोल रहा था। दूर दक्षिणी तट पर कहीं सागर के सीने में घुस आये उस काले पहाड़ की छांव में कितने जहाज लंगर डाले खड़े थे—तैरते हुए काले-काले टीले-से लग रहे थे।

किनारे की चट्टान पर बैठा मैं न जाने क्या-क्या सोच रहा था! इतना सब होने के बावजूद मुझे कहीं अधूरेपन का-सा अहसास क्यों हो रहा था? एक प्रकार की रिक्तता का सा!

दूसरे दिन प्रातः बैलाडीला के लिए रवाना हुआ, तब भी कुछ-कुछ ऐसा ही लग रहा था। कितनी सुन्दर-सुन्दर पहाड़ियों से गुजर रहा था। तब लग रहा था, तुम भी कहीं साथ-साथ चल रही हो। कुछ स्मृतियां ऐसी होती हैं, जो एक साथ ही दुःख की अनुभूति भी देती हैं, सुख की भी। वास्तव में एक बिन्दु पर आकर दुःख-सुख का भेद ही समाप्त हो जाता है। पीड़ा में भी एक तरह के सुख की अनुभूति होती है—असीम सन्तुष्टि की

शाम थी अब। हम बस्तर के आदिवासी क्षेत्र से होकर गुजर रहे थे। एक के बाद एक घन जंगल, आदिवासियों की टूटी-फूटी झोपड़ियां, आम के वृक्ष, महुआ के वन—सड़क के दोनों ओर पलाश की कतारें।

पता नहीं आदिवासियों के कौन-से त्योहार का दिन था वह। जगह-जगह बीच सड़क पर लकड़ी के लट्ठे रखकर आदिवासी बच्चे छिप जाते थे। कुछ पैसे देने पर ही वे उन्हें हटाने को राजी हो पाते—किलकारी

मारते हुए नाचने-से लगते थे।

सडक के किनारे-किनारे बहुत-से आदिवासी स्त्री-पुरुष चींटियो की-सी कतार बनाये चल रहे थे। सबके सिरो पर काली-काली पोटलिया सी थीं। महिलाए नाममात्र की छोटी सी धोती पहने थीं—धड से ऊपर का शरीर लगभग नगा।

साझ ढल चुकी थी। वृक्षो पर ढेर सारे पक्षी बैठे एक साथ चहचहा रहे थे। बस्ती यहां से दूर लगती थी। प्राणी भी अब कही कोई दीखता न था। सूनी सडक पर गाडी हवा से बातें करती हुई सनसनाती भाग रही थी। रात को हर हालत मे मजिल तक पहुचना था।

बैलाडीला पहुचने म अभी काफी समय था कि 'चीईई' की चुभती आवाज के साथ पहिए फिसलते हुए सहसा किनारे की कच्ची मिट्टी पर आ लगे थे—भारी झटके के साथ।

गाडी उलटते-उलटते बची थी। हम बुरी तरह घबरा उठे थे। ड्राइवर के चेहरे पर हवाइयां उडने लगी थी। हडबडाता हुआ वह दरवाजा खोलकर बाहर निकल आया था—न जाने कौन-सा पुर्जा टूट पडा था!

बोनट खोलकर, टार्च से कुछ टटोलता हुआ वह लगभग आधा भीतर घुस चुका था।

बडी देर तक प्रयास करता रहा, पर अन्त मे गाडी के ठीक होने के कोई आसार न दीखे तो हम खोजती निगाहो से इधर उधर भटकन-से लगे थे। रात को इस बियाबा वन मे अकेले कैसे रहते!

दूर कहीं, जगल के अन्तिम सिरे पर तभी आग जलती दीखी थी। गाडी बन्द कर, उसी दिशा में हम चल पडे थे।

आदिवासियो के घास के घरौंदे बिखरे हुए थे—अधेरे मे डूबे। बादलो से घिरा होने के कारण, लगता था टूटा हुआ चाद भी कहीं खो गया है।

हमारी आहट पाते ही कुत्ते अपने अगले पजों से मिट्टी खुरचते हुए भूक रहे थे और धीरे धीरे मोर्चा सभालते हुए पगडंडी तक आ गये थे। उनके साथ ही कुछ आदिवासी भी घिर आये थे।

ड्राइवर के हाथ मे कुछ चोट लग गयी थी। लहू बह रहा था।

कुछ देर की बातचीत के बाद वे हमे उस झोपडी में ले गये, जहां एक

प्रकाश बिन्दु दूर से झलक रहा था।

बांस की खपच्चियों का एक बड़ा सा दरवाजा अधखुला था।

दीवार की ओर मुह किये एक छाया-सी कुर्सी पर बैठी थी—मेज पर सिर टिकाए। सामने कुछ पुस्तकें बिखरी हुई थी—खुली खिड़की से आ रही हवा मे पन्ने फड़फड़ा रहे थे।

आहट सुनते ही उसने सिर ऊपर उठाया और मुड़कर देखा।

प्रकाश इतना धुधला, इतना धीमा था कि कुछ भी स्पष्ट दीख न रहा था।

अनायास मेरे पांव अब कुछ और आगे सरक आए थे। विस्मय से सहसा मेरे होठो से निकल पड़ा, "मे-हा ! तुम !"

उसी तरह शात, स्थिर खड़ी थी तुम।

मैं आश्चर्य से तुम्हारे मुरझाये मुखड़े को, सूखी सूनी आखों को, सेंवार की तरह उलझ आए बालो को देख रहा था।

सच, कितनी कमजोर लग रही थी तुम !

"आप यहा ?

मैं अब तक तुम्हारी ओर देख रहा था—खोयी खोयी दृष्टि से।

'बैलाडीला जा रहे थे गाडी खराब हो गयी हा तुम यहा कैसे ? कब से ?'

"मुद्दत हो गई।'

"पहले—तो—!"

"जी हा, पहले तराई मे रही कुछ वर्ष। अब यहां अस्पताल खोला है।"

"सरकारी ?'

"नहीं—नहीं !"

'प्राइवेट ?'

"जी, हा।'

"खर्चा वर्चा !"

"कुछ सुहास देता है, कुछ दूसरी सस्थाओ स अनुदान मे मिल जाता है।"

तराई क्यों छोड़ा ?'

'सरकारी अस्पताल खुल गया था वहां। और भी सुविधाए वहा उपलब्ध हो रही थी, पर यहां इनके पास तो कुछ भी नहीं है !'

कुछ रुककर मैंने पूछा, 'सुहास कहां है ?"

'पता नहीं एक बार गत वर्ष कुछ दिनों के लिए यहां अवश्य आया था ।

तुमने झटपट ड्राइवर के पट्टी बांधी।

रात को भोजन के बाद तुमने अपना छोटा सा अस्पताल दिखलाया था।

"बड़े विचित्र लोग हैं यहां के!" चलते-चलते तुम कह रही थी, "खेती-बाड़ी कैसे होती है, इन्हें पता नहीं। हल बैल से खेती का तरीका अब सीख रहे हैं। पर कभी-कभी बैल के बदले गाय को भी जोत लेते हैं।"

"रोगियों की संख्या यहां बहुत दीखती है। कौन-सी बीमारी अधिक है?"

"एक ही बीमारी है—सबसे संक्रामक। उसी के शिकार हैं ये बेचारे!"

"कौन सी?"

तुमने यों ही शून्य दृष्टि से देखा था, "गरीबी! बतलाइये, इससे भयकर और कौन सा रोग है इस ससार मे?"

"हां, कहती तो ठीक हो।" मैं बुदबुदा सा रहा था।

"अभी उसी सर्विस मे हैं?" तुम पूछ रही थी, बातो की दिशा बदलती हुई।

"नहीं, वह तो कब की छोड़ डाली!'

'तो—अब?"

"पत्रकारिता मे हू। लोहे की खानो के बारे में कुछ लिखना है, उसी सिलसिले मे बैलाडीला जा रहा हू।"

कितनी उखड़ी, कितनी उजड़ी लग रही थी! 'जीवाणु' सच ही तो कह रहा था।

दिन भर के लम्बे सफर से थका, पता नहीं कब सो गया था! पर सारी रात वही सितार के तार रह रहकर रो रहे थे! सोये हुए शांत वातावरण मे कैसा करुण स्वर व्याप रहा था।

29

अन्तिम मुलाकात कब हुई थी? याद है, एक दिन सहसा तुम्हारा फोन आया था, "मैं मेहा बोल बोल रही हूं! अभी मिल सकेंगे?"

इस तरह अप्रत्याशित रूप से तुम्हारा फोन आ सकता है, मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

"कहां से बोल रही हो?"

"यहां दिल्ली आयी हूं—आपकी अयोध्या में।"

"कब ?"

"आज सुबह।"

"शाम को घर नहीं आ सकती ?" कुछ अत्यावश्यक कार्यों में उलझा हुआ था। घर का पता देकर, अपने को उस समय मुक्त तो कर लिया, किन्तु फिर सारे दिन काम में मन नहीं लगा।

शाम को भागा भागा घर पहुंचा तो तुम प्रतीक्षा में बैठी थी।

"रोज इतनी ही देर से आते हैं क्या ?" तुम्हारे स्वर में उलाहने के साथ साथ अपनेपन का भाव भी निहित था। इसीलिए वह झिड़की भी कितनी अच्छी लगी थी।

मैं यों ही सहज भाव से हंस पड़ा तो तुम भी हंसने लगी थी।

"यही घर है न आपका ? सामान किस तरह बिखरा हुआ है ?" एक-एक बिखरी वस्तु जतन से उठाकर तुम सहेज रही थी।

"अकेले रहते हैं क्या ?"

"नहीं तो।"

"फिर कौन है ?"

"मैं हूं। और भी बहुत से लोग हैं।"

"झूठ बोल रहे हैं न !" तुम छोटी बच्ची की तरह कह रही थी, "लगता नहीं कि आपके अलावा कोई और रहता है यहां !"

"नहीं—नहीं ! तुम समझ नहीं सकती। इन आंखों से जो लोग दिखलायी देते हैं, उन्हीं का अस्तित्व होता है क्या ?"

" "

"हम उनके साथ भी तो रहते हैं, उनके साथ भी तो जीते हैं न, जो दिखलायी नहीं देते। उनका क्या कोई अस्तित्व नहीं ?"

तुम्हारी आकृति एकाएक कितनी भारी हो गयी थी, "सो तो है।" फुसफुसाती हुई होंठों-ही होंठों में तुम कह रही थी, "ऐसा भी होता है। आपने कितना सच कहा !"

"अब भी वहीं हो, मेहा ?"

"नहीं।"

" "

"छोड़ दिया है बस्तर।"

"क्यों ?"

"आदिवासियों के आपसी झगड़े में अस्पताल जल गया था। वहां मन भी नहीं लगता अब।"

"तो फिर वही चिरन्तन भटकाव ?"

"नहीं," तुमने एक गहरी सांस ली, "ऐसा भी नहीं, हर जगह का अन्न-जल होता है न ! जब वह उठ जाता है तो !"

"सुहास का कोई अता-पता ?"

"वह तो कब का मर गया !" इतनी बड़ी बात तुम कितने सहज ढंग से, सपाट शब्दों में कह गयी थी !

"कब कब ?"

"अर्सा हो गया ! अपनी सारी सम्पत्ति दान में देकर वह स्वयं भी एक तरह से सन्यासी-जैसा हो गया था। इधर कुछ समय से बिस्तर में ही रहने लगा था। वहीं एक दिन सड़क दुर्घटना में !"

मैं पाषाणवत जैसा था, वैसा-का-वैसा ही बैठा रह गया। इतना बड़ा हादसा !

एक अजीब-सी तटस्थ, वीतरागी दृष्टि से तुमने मेरी ओर देखा था, "जो हो गया, हो गया ! उसके लिए पश्चात्ताप करने से क्या ? आप तो अध्यात्म को मानने वाले हैं। देह नष्ट होती है, आत्मा तो नहीं न !"

तुम क्या कह रही हो, मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। सुहास की मृत्यु के समाचार को सुनकर मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे किसी रूप में मेरे ही किसी अंश का अंत हो गया हो।

"च्च, कितना बुरा हुआ !" सिर हिलाते हुए इतना ही कहकर भयानक रूप से मैं चुप हो गया था।

भीतर जाकर तुम स्वयं चाय बनाने लगी थी।

कुछ समय बाद चाय के प्याले बाहर लाती हुई बोली थी, "सुनो, जो बीत गया, उसके लिए दुःख नहीं किया करते—हां !"

मैं तुम्हारे चेहरे की ओर देख रहा था, "मेहा, तुम यह सब क्या कह रही हो ?" मैंने तड़पकर कहा था।

तुमने जैसे सुना नहीं।

थोड़ी देर बाद तुम खुद ही बोली थी, "सुनिये, आपसे कुछ जरूरी बातें करनी थीं। कल सुबह तो मैं जा रही हूं !"

"कहां ?"

"बहुत-बहुत दूर जहां से लौटकर फिर कभी नहीं आऊंगी !"

पहले से ही दूरी कुछ कम थी, जो अब और बढ़ा रही हो—मैं कहना चाह रहा था, पर कह न पाया।

निकट आकर सोफे के हत्थे पर तुम योंही शरीर टिकाकर बैठ गयी थी। मेरे बिखरे बालों को स्नेह से सहला रही थी, "आप समझते क्यों

नहीं ! मेरी जिन्दगी के अब कुछ ही सांस शेष रह गए हैं । मैं उन्हें कहीं दूर बिताना चाहती हूं, बहुत-बहुत दूर !"

"अपने से ही भागकर कहां जाओगी, मेहा ?"

तुम्हारे माथे पर पसीने की बूंदें उभर आयी थीं । तुम कितनी थकी-थकी-सी लग रही थी उस क्षण !

"कहां जाने का इरादा है ?"

"अफ्रीका । स्विट्जरलैंड के कुछ डॉक्टर कांगो में एक बहुत बड़ा अस्पताल खोलने जा रहे हैं । दुनिया भर के डॉक्टरों से उन्होंने अपील की है कि सदियों से सताये हुए, इन गरीबों की सेवा सुश्रूषा में जो अपने को समर्पित कर सकें, उन्हें हम आमन्त्रित करते हैं । मैंने भी प्रार्थना-पत्र भेजा था । उसकी स्वीकृति आ गयी है । प्लेन का टिकट भी "

"वहां जाकर भी मन लग जाएगा ?"

"यह तो मालूम नहीं, पर चैन से मर तो सकूंगी न !"

तुम्हारी आंखों से रह रहकर टपकती जल की गरम गरम बूंदें मेरे माथे पर गिर रही थीं ।

"शिवालिका में ठहरी हूं । अभी कुछ फार्मेलिटीज और पूरी करनी हैं, अतः व्यस्तता बहुत अधिक रहेगी सुहास की कुछ अमानत आपको सौंपनी है, कुछ कागजात ! कल प्रातः पालम आ सकेंगे ?"

सजल नेत्रों से तुम देख रही थी ।

उन डबडबायी आंखों में ऐसा क्या कुछ तैर रहा था, जिसकी बाढ़ में सारा अतीत बह सा रहा था—सारा अग जग—सारा संसार ।

कुछ देर बाद तुम चलने लगी तो तुम्हारा कंठ कितना भीग आया था, "सुनो, दुःखी न होना । पता नहीं, हमारा यह किस जनम का बैर था, जो जो !" मेरी हथेली पर अपना तपता माथा टिकाकर तुम फूट-फूट कर रो पड़ी थी ।

देर बाद आंचल से आंखें पोंछते हुए तुमने कहा था, "कल सुबह आओगे न ! प्रतीक्षा करूंगी ।'

प्रतिध्वनि की तरह देर तक तुम्हारी आवाज बार-बार गूंजती रही थी ।

मुझे क्या पता था कि कल जब पालम पहुंचूंगा तो तुम्हारा विमान आसमान में उड़ान भर रहा होगा । तुम हमेशा हमेशा के लिए यह धरती छोड़कर ओझल हो चुकी होगी !

□□

हिमांशु जोशी

बहुचर्चित कथाकार। 'तुम्हारे लिए' के अतिरिक्त 'अरण्य', 'महासागर', 'कगार की आग', 'छाया मत छूना मन', 'समय साक्षी है', 'सु राज' (उपन्यास) तथा 'अन्तत', 'रथचक्र', 'मनुष्य चिह्न', 'जलते हुए डैने', हिमांशु जोशी की इक्यावन कहानियाँ' (कथा-संग्रह), 'अग्निसम्भव' (कविता संग्रह) भी विशेष रूप से उल्लेखनीय रहे।

भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, चीनी, जापानी, नार्वेजियन, बर्मी, स्लाव आदि भाषाओं में भी कुछ रचनाओं के अनुवाद हुए हैं।

पेशे से पत्रकार हिमांशु जोशी ने साहित्य में नित नए प्रयोग किए हैं। उसी का एक उदाहरण है—'तुम्हारे लिए'।